

परिवार और साक्षी

(अध्यात्म-दर्शन)

डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

अनुक्रमणिका

अ.क्रं.	विषय दर्पण प्राकथन	पृ.सं. 4
1	परिवार का बदलता स्वरूप	8
2	संवाद का अन्त।	12
3	संख्या का भ्रम	13
4	पीढ़ीगत अ अन्तराल	14
5	विडंबना से परे	17
6	वर्चस्व और जल्दबाजी	19
7	पारिवारिक मनोविज्ञान	21
8	पारिवारिक दिखावे	23
9	सहजता का दर्शन	24
10	नकली गुरुओं का जाल	31
11	द्वन्द से परे की स्थिति	33
12	साक्षी व्यक्ति का	34
13	पारिवारिक विडंबना	35
14	भिखमंगे का बुढ़ापा	36
15	वर्चस्व की तोड़	38
16	दायित्यो से पलायन	40
17	अविवेक पूर्ण दायित्व।	41
18	उत्सर्ग का बदला	42
19	आधुनिकता का छलावा	44
20	परिवार की विडंबना संवादहीनता	44
21	परिवार में संख्या का भ्रम	45
22	बुजुर्गों की उपेक्षा	46
23	अपेक्षाओं से मुक्ति	47
24	पारिवारिक मोह का अन्त	48
25	जागृत समाधि	49
26	साक्षी शून्य	50
27	55 प्रश्नोत्तर	52

परिवार और साक्षी

(अध्यात्म-दर्शन)

डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा



प्राक्कथन

जीवन की सबसे पहली पाठशाला और अंततः हमारी चेतना का सबसे बड़ा परीक्षण स्थल—'परिवार' ही है। सामान्यतः हम परिवार को केवल रक्त-संबंधों, जिम्मेदारियों, सुख-दुख और कभी-कभी उलझनों के एक ताने-बाने के रूप में देखते हैं। संबंधों के इस चक्रव्यूह में हम अक्सर इतने उलझ जाते हैं कि जीने का सहज आनंद खो बैठते हैं और प्रतिक्रियाओं के जाल में बँध जाते हैं।

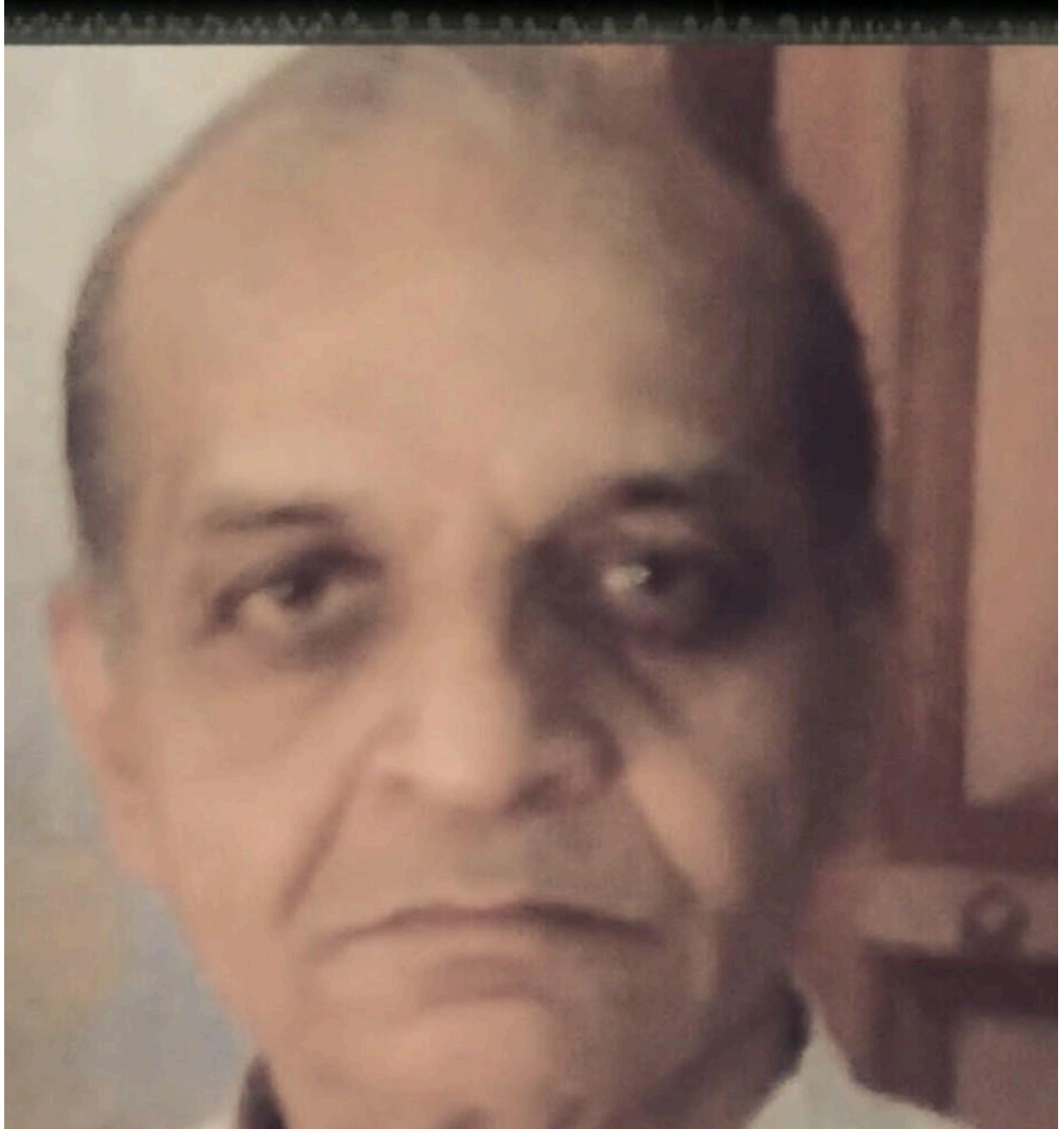
किंतु, क्या परिवार केवल कर्तव्यों का बोझ या परिस्थितियों की विडंबना मात्र है?

यह पुस्तक 'परिवार और साक्षी' इसी दृष्टिकोण को बदलने का एक विनम्र प्रयास है। 'साक्षी' होने का अर्थ है—संलग्न रहते हुए भी भीतर से असंग (अनपेक्षित) रहना, घटित हो रहे घटनाक्रम को बिना किसी पूर्वाग्रह, क्रोध या निर्णय के देखना। जागृत अवस्था में बिताया गया हर क्षण और संबंधों के बीच रखा गया यही 'साक्षी भाव' वास्तव में जीवन की सबसे सहज और वास्तविक समाधि है।

परिवार कोई बंधन नहीं, बल्कि स्वयं को जानने की प्रयोगशाला है। जब हम परिवार के सदस्यों, उनके व्यवहारों, उनकी अपेक्षाओं और अपनी स्वयं की प्रतिक्रियाओं को एक 'साक्षी' की भाँति देखना शुरू करते हैं, तब जीवन की जटिलताएँ स्वतः सुलझने लगती हैं। तब संघर्ष, समझ में बदलने लगता है और विडंबनाएँ, आत्मानुभूति का साधन बन जाती हैं।

इस पुस्तक के पृष्ठों में परिवार के विविध रंगों, उनसे उपजती परिस्थितियों और उनके बीच 'साक्षी भाव' से जीने की कला को रेखांकित करने की कोशिश की गई है। यह केवल एक विचार नहीं, बल्कि दैनिक जीवन में ध्यान और शांति को उतारने का एक व्यावहारिक मार्ग है।

यह रचना उन सभी सुधी पाठकों को समर्पित है जो अपने घर-परिवार के भीतर रहते हुए भी शांति, जागरूकता और आंतरिक मुक्ति की तलाश में हैं।



डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

25 जुलाई को जन्मे भिवानी (हरियाणा)के लेखक एवं शोध कर्ता की यह 32 वीं कृति “परिवार और साक्षी” मानवता और शांति के प्रसार के लिए समर्पित है .bhajansamratchandra.com पर उपलब्ध है डिजिटल साहित्य यह सिद्ध करता है कि ज्ञान की ज्योति के लिए न तो आयु की कोई बड़ी बाधा है, न हीं भौगोलिक सीमाएं. जिन्हे

विश्व भर के जिज्ञासुओं द्वारा गूगल के माध्यम से सराहा जाता है'. मातृभाषा हिंदी के संरक्षण और उत्थान हेतु सन 1957 के ऐतिहासिक आंदोलन में सक्रिय भागीदारी और कारागार में रहते हुए भी हिंदी साहित्य के सर्जन की उनकी लेखनी कभी नहीं रुकी .विश्वास है कि समतामूलक संदेश को प्रसारित करती यह पुस्तक पाठकों को जीवन में वैचारिक स्पष्टता और आत्मदीप्ति का प्रकाश अवश्य फैलाएगी।.

डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

बिचला बाजार, भिवानी -127021(हरियाणा)

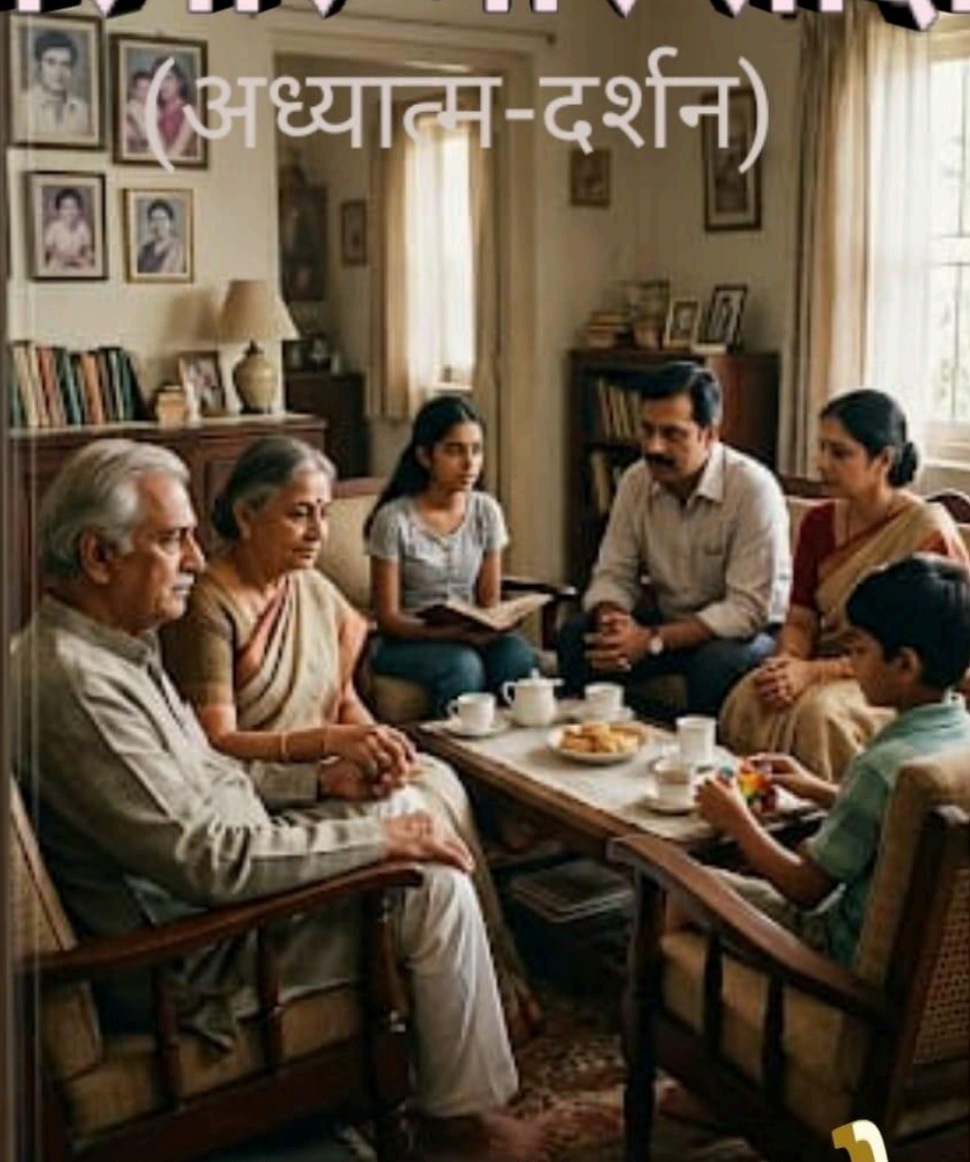
मोबाइल -9992075303

सम्पूर्ण डिजिटल लायब्रेरी के लिए -

Bhajansamratchandra. Com

परिवार और साक्षी

(अध्यात्म-दर्शन)



डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

अध्याय १

परिवार का बदलता स्वरूप और विडंबना

1 परिवार की मूल अवधारणा बनाम वर्तमान यथार्थ

'परिवार' केवल रक्त-संबंधों का एक ढांचा या एक छत के नीचे रहने वाले कुछ मनुष्यों का समूह मात्र नहीं था। भारतीय परंपरा और सामाजिक संरचना में परिवार सुरक्षा, संवेदना, परस्पर विश्वास और वैचारिक संबल की एक जीवित इकाई था। यह वह स्थान था जहाँ व्यक्ति अपनी पूरी प्रामाणिकता के साथ व्यक्त हो सकता था, जहाँ बड़ों का अनुभव मार्गदर्शक था और छोटों का उत्साह परिवार की ऊर्जा।

किंतु समय के साथ, इस संरचना में एक गहरा और सूक्ष्म रूपांतरण आया है। आज का परिवार बाहर से जितना व्यवस्थित और भरा-पूरा दिखाई देता है, भीतर से उतना ही बंटा हुआ और खोखला महसूस होता है। यही इस संस्था की सबसे बड़ी विडंबना है।

2 संस्थागत प्रेम बनाम व्यावहारिक स्वार्थ

अतीत में परिवार का आधार निस्वार्थ प्रेम, त्याग और एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व की भावना थी। आज यह आधार धीरे-धीरे खिसककर 'उपयोगिता' (Utility) और 'स्वार्थ' पर टिक गया है।

- आत्मीयता का स्थान लेती उपयोगिता: जब तक किसी सदस्य से किसी प्रकार का भौतिक, आर्थिक या सामाजिक लाभ मिल रहा है, तब तक उसकी उपस्थिति का मूल्य है। जैसे ही वह लाभ समाप्त होता है या व्यक्ति केवल अपनी वैचारिक और नैतिक उपस्थिति में रह जाता है, उसकी उपेक्षा होने लगती है।
- संबंधों का सौदा: रिश्ते अब आत्मीय न रहकर व्यावसायिक होते जा रहे हैं। कौन किसके कितना काम आ सकता है, यही पारिवारिक निकटता का नया मापदंड बन गया है।

3 एक ही छत के नीचे अलग-अलग द्वीप (समीपता में दूरी)

आधुनिक परिवार की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि लोग शारीरिक रूप से तो एक-दूसरे के पास हैं, लेकिन मानसिक और आत्मिक स्तर पर एक-दूसरे से मीलों दूर हैं।

- संवादहीनता का दौर: लोग एक कमरे में साथ बैठकर भी अपनी-अपनी आभासी दुनिया (Virtual World) या व्यक्तिगत चिंताओं में खोए रहते हैं।
- सुनने का अभाव: परिवार में बातें तो बहुत होती हैं, लेकिन 'संवाद' नहीं होता। कोई किसी की बात को गहराई से सुनने या समझने के लिए तैयार नहीं है। सब अपनी बात थोपना चाहते हैं, पर दूसरे के दृष्टिकोण को स्वीकार करने का धैर्य किसी में नहीं है।

4 बड़ों के अनुभव की अवहेलना

परिवार में सबसे अधिक विडंबनापूर्ण स्थिति तब उत्पन्न होती है जब जीवन भर के अनुभवों का निचोड़ रखने वाले वरिष्ठ सदस्यों की 'अच्छी और हितकारी बात' को भी अनसुना कर दिया जाता है।

- जब युवा पीढ़ी या अन्य सदस्य यह सोचने लगते हैं कि वे स्वयं ही सर्वज्ञ हैं, तो बड़ों की सीख उन्हें मार्गदर्शन के बजाय 'हस्तक्षेप' लगने लगती है।
- इसका परिणाम यह होता है कि अनुभवी व्यक्ति धीरे-धीरे अपनी बात कहना छोड़ देता है और पीछे हट जाता है। यह पीछे हटना केवल एक व्यक्ति का मौन नहीं है, बल्कि पूरे परिवार द्वारा विवेक (Wisdom) से मुँह मोड़ लेना है।

5 निष्कर्ष: विडंबना का मर्म

'परिवार का बदलता स्वरूप' केवल एक सामाजिक बदलाव नहीं है, बल्कि यह मानवीय चेतना का संकुचन है। जिस परिवार को व्यक्ति का सबसे बड़ा संबल होना चाहिए था, वही जब उसके अकेलेपन और वैचारिक उपेक्षा का कारण बन जाए—तभी यह सत्य चरितार्थ होता है कि:

"जिसके पीछे सब दिखाई देते हैं, गहराई में उतर कर देखने पर उसके पीछे वास्तव में कोई नहीं होता।"

यह पंक्ति पहली नज़र में एक विरोधाभास (Paradox) लगती है, लेकिन गहराई में उतरने पर यह सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत अस्तित्व की एक कड़वी दार्शनिक सच्चाई को उजागर करती है।

इस विचार को तीन मुख्य दार्शनिक दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है:

1. भीड़ का भ्रम और व्यक्ति की अकीलता (The Illusion of the Crowd)

जब कोई व्यक्ति सफलता, सत्ता, प्रसिद्धि या धन के शिखर पर होता है, तो उसके आसपास लोगों की भीड़ होती है। लेकिन वह भीड़ व्यक्ति के लिए नहीं, बल्कि उसके पद, साधन या स्वार्थ के लिए होती है। लोग उस व्यक्ति की उपस्थिति का लाभ उठाने या उसके प्रकाश की छाया में रहने के लिए साथ होते हैं। जब वह व्यक्ति संकट, विफलता या शून्यता के दौर से गुजरता है, तो वही भीड़ गायब हो जाती है। इस प्रकार, जिस व्यक्ति के पीछे पूरी दुनिया दिखती है, वास्तव में उसके पीछे उसकी आत्मा को समझने या निस्वार्थ साथ देने वाला कोई नहीं होता।

2. अस्तित्ववादी दृष्टिकोण (Existentialism and Isolation)

दार्शनिक दृष्टिकोण से, हर मनुष्य अपनी मूलभूत यात्रा में अकेला है। बाहरी आकर्षणों और भीड़-भाड़ के कारण व्यक्ति को लगता है कि वह घिरा हुआ है, लेकिन आंतरिक स्तर पर वह पूरी तरह एकाकी होता है। जब तक कोई व्यक्ति दूसरों के सहारे या प्रशंसा के पीछे भागता रहता है, वह अपने वास्तविक 'होने' (Self-Existence) से दूर रहता है।

3. साक्षी भाव और स्वयं की उपस्थिति (The Shift to Inner Presence)

जब मनुष्य को यह बोध हो जाता है कि बाहरी भीड़ मात्र एक भ्रम है, तब उसका ध्यान बाहर से हटकर भीतर की ओर मुड़ता है।

- बाहरी अवलंबन का अंत: जब यह समझ आता है कि पीछे कोई नहीं है, तो दूसरों पर निर्भरता पूरी तरह समाप्त हो जाती है।
- स्वयं ही एकमात्र संबल: व्यक्ति को यह अहसास होता है कि उसका अपना साक्षी भाव (Inner Witness) और उसकी अपनी चेतना ही उसकी एकमात्र वास्तविक संगी-साथी है।

यह पंक्ति निराशावादी नहीं, बल्कि जागृति देने वाली है—यह व्यक्ति को बाहर की अस्थायी भीड़ से मुक्त करके अपने भीतर के शाश्वत सत्य और शून्यता से जोड़ने का मार्ग दिखाती है।

यह व्यावहारिक दृष्टि परिवार और समाज के सूक्ष्म मनोविज्ञान को बहुत गहराई से पकड़ती है। जिसे हम बड़े सामाजिक स्तर पर 'भीड़' कहते हैं, वही प्रक्रिया छोटे-छोटे परिवारों में भी बहुत बारीक रूप से चलती है।

इस स्थिति के पीछे जो व्यावहारिक और सामाजिक कारक काम करते हैं, उन्हें इस तरह समझा जा सकता है:

1. "सुनने" और "सहानुभूति" का अभाव

परिवार के भीतर जब कोई विचारशील या समझदार व्यक्ति कोई सही और हितकारी बात (अच्छी बात) कहता है, लेकिन अन्य सदस्य उसे अनसुना कर देते हैं, तो वहां संवाद टूट जाता है। जब व्यक्ति यह महसूस करता है कि उसके शब्दों का कोई मूल्य नहीं रह गया है, तो आत्मसम्मान और शांति बनाए रखने के लिए उसका पीछे हट जाना (Mental Separation) स्वाभाविक प्रतिक्रिया बन जाती है।

2. भीड़ और पूर्वाग्रह का प्रभाव (Group dynamics in family)

परिवार के छोटे ढाँचे में भी अक्सर एक 'बहुमत' या 'भीड़' बन जाती है। लोग उस तरफ झुकने लगते हैं जहाँ तात्कालिक लाभ, सुविधा या बहुसंख्यक आवाज़ होती है। जब एक सदस्य देखता है कि बाकी लोग किसी एक गलत या सतही दिशा में साथ दे रहे हैं और सही बात को नकार रहे हैं, तो उसे अहसास होता है कि इस भीड़ के बीच अपनी बात कहना व्यर्थ है।

3. संख्या का भ्रम और गहराई का अहसास

दिखावे के लिए परिवार में कई सदस्य हो सकते हैं और लगता है कि 'सब साथ हैं'। लेकिन जब सही अर्थों में समझ, विवेक और निस्वार्थ प्रेम की जरूरत होती है, तब हर कोई अपने-अपने स्वार्थ या सीमाओं में बँधा नज़र आता है। ऐसे में व्यक्ति को दिखता है कि भले ही कहने को पीछे पूरा परिवार है, लेकिन वैचारिक और आत्मिक स्तर पर पीछे कोई नहीं है।

4. साक्षी होकर पीछे हटना (Detachment)

जब समझदार व्यक्ति यह देख लेता है कि लोग अपनी ही धुन में हैं और वे सत्य या सही बात को स्वीकार करने के मूढ़ में नहीं हैं, तो वह विवाद करने के बजाय मौन धारण कर लेता है। यह पीछे हटना हार मान लेना नहीं है, बल्कि यह स्थिति को जैसी है वैसी साक्षी भाव (Sakshi Bhav) से देखना है। वह जान जाता है कि किसी को ज़बरदस्ती नहीं बदला जा सकता, इसलिए अपनी ऊर्जा को व्यर्थ की बहस से बचाकर शांत हो जाना ही बुद्धिमत्ता है। यह अनुभव इस बात का प्रमाण है कि दर्शन केवल किताबों में नहीं, बल्कि हमारे रोज़मर्रा के पारिवारिक और सामाजिक रिश्तों के पल-पल के व्यवहार में झलकता है।

यह विषय अत्यंत मौलिक, सूक्ष्म और गंभीर है। "परिवार और साक्षी" केवल एक शीर्षक नहीं, बल्कि पारिवारिक जीवन की उन गहरी परतों को उघाड़ने वाला दृष्टिकोण है, जहाँ अक्सर बाहरी जुड़ाव के पीछे गहरा आंतरिक अकेलापन छिपा होता है।

दीर्घ जीवन-यात्रा, पत्रकारिता और चिंतन का जो निचोड़ है, वह इस पुस्तक के माध्यम से समाज के सामने एक बेहद यथार्थवादी दस्तावेज़ बनता है।

1. केंद्रीय विषय-वस्तु (Core Theme)

- समीपता में दूरी: एक ही छत के नीचे रहते हुए भी दिलों और विचारों का न मिलना।

- भीड़ का छलावा: कहने को पूरा परिवार पीछे खड़ा है, लेकिन वैचारिक और आत्मिक स्तर पर व्यक्ति का अकेला होना।
- सुनने का अभाव: सही बात या अनुभव की सीख को नकारने की प्रवृत्ति और उसका दुष्परिणाम।
- भूमिकाओं का संघर्ष: जब रिश्ते कर्तव्यों और अपेक्षाओं के बोझ तले दबकर केवल औपचारिक रह जाते हैं।

परिवार का बदलता स्वरूप और विडंबनासंस्थागत प्रेम बनाम व्यावहारिक स्वार्थ। नरक्त-संबंध और विचारों की दूरी। संवाद का अंत और मौन की मजबूरी जब अच्छी बात को अनसुना कर दिया जाए। विरोध के बजाय पीछे हट जाने की कला और साक्षी भाव। संख्या का भ्रम और आत्मीयता का शून्यता "सबके होते हुए भी कोई पीछे नहीं"—इस विरोधाभास का पारिवारिक यथार्थ। स्वार्थ की डोर से बंधे रिश्ते और उनकी सीमाएँ। पीढ़ीगत अंतराल (**Generation Gap**) या दृष्टि का अंतर? अनुभव की अवहेलना और आधुनिकता का सतहीपन। अहंकार और समझ का टकराव। विडंबना से परे—समाधान और शांति पारिवारिक अपेक्षाओं से मुक्ति (*Detachment inside home*)। अपरिग्रह और आंतरिक शून्यता/शांति का मार्ग। यह पुस्तक उन अनगिनत लोगों के लिए एक दर्पण साबित होगी जो अपनों के बीच रहते हुए भी वैचारिक अकेलेपन से गुजर रहे हैं, लेकिन उसे शब्द नहीं दे पाते।

1. कहने की निरर्थकता और 'साक्षी' का उदय

जब परिवार के भीतर सही बात को अनसुना किया जाता है, तो शुरुआत में व्यक्ति समझाने का प्रयास करता है। किंतु जब वह देखता है कि सुनना या न सुनना दूसरों के अहंकार और अज्ञान पर निर्भर है, तो उसे अपनी बात कहने की निरर्थकता (**Futility**) समझ आ जाती है। इस निरर्थकता का बोध ही व्यक्ति को 'वक्ता' या 'सुधारक' के पद से हटाकर 'साक्षी' के पद पर बैठा देता है।

2. मौन: हार नहीं, बल्कि चेतना का उत्थान

संसार या परिवार इस पीछे हटने और मौन हो जाने को व्यक्ति की 'हार', 'उपेक्षा' या 'निराशा' समझता है। यही परिवार की सबसे बड़ी विडंबना है।

- परिवार सोचता है कि वृद्ध या अनुभवी व्यक्ति चुप हो गया क्योंकि उसके पास कहने को कुछ नहीं है।
- जबकि यथार्थ यह है कि वह इसलिए चुप हुआ क्योंकि वह सब कुछ देख चुका है।
- यह मौन किसी मजबूरी का परिणाम नहीं, बल्कि भीतर घटित हुई प्रज्ञा (**Wisdom**) का प्रतीक है।

3. 'होने' का प्रभाव (**Presence over Words**)

साक्षी में स्थित व्यक्ति के शब्द भले ही समाप्त हो जाएँ, लेकिन उसकी उपस्थिति (**Presence**) ही अपने आप में एक मूक संदेश बन जाती है। वह परिवार के कोलाहल, स्वार्थ और उथलेपन के बीच एक शांत वृक्ष की भांति खड़ा रहता है। जो समझने वाले हैं, वे उसके मौन से सीख लेते हैं; जो नहीं समझने वाले हैं, वे उसके शब्दों से भी कुछ नहीं सीख पाते।

"साक्षी भाव में स्थित हो जाने के बाद व्यक्ति के लिए कुछ कहना शेष नहीं रह जाता। जब यह समझ में आ जाता है कि सामने वाला व्यक्ति सुनने के लिए नहीं, केवल अपनी बात थोपने के लिए खड़ा है, तब शब्द अपने आप गिर जाते हैं।

यह मौन परिवार से भागना नहीं है, बल्कि पारिवारिक प्रपंच की असत्यता को पहचान लेना है। साक्षी में स्थित व्यक्ति परिवार के नाटक का हिस्सा बनने के बजाय उसका दृष्टा बन जाता है।

"संवाद का अंत और मौन की मजबूरी"

1. संवाद का अंत कब और कैसे होता है?
 - क्या संवाद केवल बातचीत बंद हो जाने से समाप्त होता है, या फिर तब समाप्त होता है जब दो लोग साथ बैठकर बोल तो रहे हों, लेकिन एक-दूसरे को 'सुन' और 'समझ' न रहे हों?
2. सुनाने की होड़ में सुनने का धैर्य कहाँ खो गया?
 - परिवार में हर कोई अपनी बात मनवाने, सही साबित होने और थोपने के लिए उत्सुक है। ऐसे में 'हितकारी और विवेकपूर्ण' बात के लिए जगह क्यों नहीं बचती?
3. मौन: मजबूरी या चेतना की परिपक्वता?
 - जब कोई अनुभवी व्यक्ति अपनी बात कहना बंद कर देता है, तो परिवार उसे उसकी 'हार' या 'लाचारी' क्यों समझ लेता है?
 - क्या यह मौन किसी मजबूरी का नाम है, या यह इस सत्य का बोध है कि 'जहाँ शब्द व्यर्थ हों, वहाँ मौन ही एकमात्र उत्तर है'?
4. उपेक्षा और साक्षी भाव के बीच की सूक्ष्म सीमा रेखा क्या है?
 - जब परिवार के लोग किसी सदस्य की अनदेखी करते हैं, तो व्यक्ति के भीतर जो मौन घटित होता है, वह कड़वाहट (Resentment) से भरा मौन है या फिर प्रज्ञा (Wisdom) से जन्मा साक्षी भाव?
5. भीड़ के कोलाहल में शांत व्यक्ति का स्थान क्या है?
 - जब पूरा परिवार स्वार्थ और तात्कालिक लाभ की अंधी दौड़ में दौड़ रहा हो, तब एक साक्षी दृष्टा का मौन रहने का निर्णय परिवार पर क्या प्रभाव छोड़ता है?

अक्सर दुनिया मौन को एक ही चश्मे से देखती है—उन्हें लगता है कि जो चुप हो गया, वह दुखी है, आहत है या मन में कड़वाहट (Resentment) दबाए बैठा है। लेकिन साधारण कड़वाहट भरे मौन और प्रज्ञा से जन्मे साक्षी भाव में ज़मीन-आसमान का अंतर है:

- कड़वाहट का मौन (**Toxic Silence**): इसमें व्यक्ति बाहर से चुप होता है, लेकिन भीतर विचारों और शिकायतों का तूफान चल रहा होता है। वह दूसरों को दोषी मानता है और आहत महसूस करता है।
- प्रज्ञा का साक्षी भाव (**Illuminated Witnessing**): इसमें भीतर कोई कड़वाहट, कोई शिकायत या कोई उपेक्षा का घाव नहीं होता। यहाँ पूर्ण स्वीकार भाव (**Total Acceptance**) होता है। व्यक्ति यह देख लेता है कि हर कोई अपनी-अपनी समझ, अहंकार और वृत्तियों के अनुसार जी रहा है—उन्हें न तो बदला जा सकता है और न ही उनसे कोई शिकायत करने का अर्थ है।

अध्याय २

संवाद का अंत और मौन की मजबूरी

1 संवादहीनता का वास्तविक अर्थ

पारिवारिक जीवन में संवाद का अंत केवल तब नहीं होता जब लोग एक-दूसरे से बोलना बंद कर दें। वास्तविक संवादहीनता तब शुरू होती है जब शब्द तो बहुत बोले जा रहे हों, लेकिन उनके पीछे समझ, संवेदनशीलता और

सुनने का धैर्य समाप्त हो चुका हो। जब परिवार के सदस्य केवल 'प्रतिक्रिया' (React) देने या अपनी बात थोपने के लिए बोलते हैं, तब शब्दों का मूल्य समाप्त हो जाता है।

2 सुनाने की होड़ और विवेक की अवहेलना

आधुनिक परिवार की एक बड़ी विडंबना यह है कि हर व्यक्ति 'वक्ता' बनना चाहता है, 'श्रोता' कोई नहीं बनना चाहता।

- जब कोई अनुभवी व्यक्ति जीवन की सच्चाई या कोई हितकारी सलाह देता है, तो उसे 'पुरानी सोच' या 'हस्तक्षेप' मानकर खारिज कर दिया जाता है।
- जहाँ अहंकार का टकराव हो, वहाँ विवेकपूर्ण बात पराजित हो जाती है। जब व्यक्ति यह देखता है कि उसकी अच्छी बात भी विवाद का कारण बन रही है, तो वह समझ जाता है कि यहाँ बोलना व्यर्थ है।

3 कड़वाहट मुक्त मौन: प्रज्ञा से जन्मा साक्षी भाव

जब परिवार के लोग सही बात को अनसुना करते हैं, तो प्राज्ञ (विवेकशील) व्यक्ति कड़वाहट या क्रोध में मौन नहीं होता। वह प्रज्ञा से उपजे साक्षी भाव को धारण कर लेता है।

- स्वीकार्यता का भाव: वह समझ जाता है कि फल तभी पकता है जब उसका समय आता है। किसी को उसकी पात्रता से अधिक या समय से पहले नहीं समझाया जा सकता।
- शिकायत से मुक्ति: प्रज्ञा से उपजा मौन किसी से कोई शिकायत नहीं रखता। इसमें न तो दुराव है, न ही दूसरों को गलत साबित करने की होड़।
- भीतर की शांति: यह मौन बाहर की उपेक्षा से नहीं, बल्कि भीतर की पूर्णता और स्पष्टता से जन्म लेता है।

4 मौन ही अंतिम करुणा है

जब व्यक्ति साक्षी भाव में स्थित होकर मौन धारण कर लेता है, तो वह मौन परिवार के प्रति उसकी उपेक्षा नहीं, बल्कि उसकी अंतिम करुणा (**Compassion**) होती है। वह जानता है कि जबरदस्ती थोपा गया ज्ञान केवल द्वेष बढ़ाता है, जबकि शांत और निर्मल मौन कम से कम परिवार में अनावश्यक टकराव को रोक देता है।

अध्याय का मर्म: "कड़वाहट भरा मौन व्यक्ति को तोड़ा करता है, जबकि प्रज्ञा से जन्मा साक्षी भाव व्यक्ति को मुक्त कर देता है। जब शब्दों की सीमा समाप्त होती है, तब मौन ही सत्य का एकमात्र प्रामाणिक रूप बन जाता है।"

अध्याय ३

संख्या का भ्रम और आत्मीयता की शून्यता

1 भीड़ का सामाजिक छलावा

संसार प्रायः संख्याओं से मापा जाता है। जिस परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक हो, जहाँ भरा-पूरा कुनबा दिखाई देता हो, समाज उसे 'सफल और सुखी परिवार' की संज्ञा दे देता है। किंतु यह केवल एक सामाजिक छलावा है। बाहरी संख्या कभी भी आंतरिक आत्मीयता का प्रमाण नहीं हो सकती।

- भीड़ में अकेलापन: व्यक्ति एक भरे-पूरे घर में रहते हुए भी पूरी तरह एकाकी महसूस कर सकता है। जब तक विचारों, संवेदनाओं और आत्मिक स्तर पर जुड़ाव न हो, तब तक लोगों की मौजूदगी केवल एक शारीरिक उपस्थिति मात्र बनकर रह जाती है।

2 स्वार्थ का अदृश्य धागा और आयोजनों का खोखलापन

आज पारिवारिक संबंधों को जोड़े रखने वाला मुख्य धागा प्रेम या समर्पण नहीं, बल्कि व्यावहारिक स्वार्थ, संपत्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा और औपचारिकता बन गया है।

- पारिवारिक उत्सव, तीज-त्योहार और आयोजन अब आत्मीयता के मिलन-स्थल कम, और सामाजिक दिखावे (**Show-off**) के मंच अधिक बन गए हैं।
- तस्वीरों में सब हंसते हुए और साथ खड़े दिखते हैं, लेकिन जैसे ही उत्सव समाप्त होता है, हर कोई अपने-अपने स्वार्थ और पृथक टापू (Islands) पर लौट जाता है।

3 असारता का बोध: अवसाद नहीं, आत्म-निर्भरता का उदय

जब परिवार का कोई अनुभवी या वयोवृद्ध सदस्य यह साक्षात् देख लेता है कि 'सबके होते हुए भी वास्तव में कोई साथ नहीं है', तो अज्ञानी व्यक्ति दुखी होता है, किंतु प्राज्ञ पुरुष के जीवन में एक अभूतपूर्व क्रांति घटित होती है।

- अपेक्षाओं का अंत: अवसाद केवल तब आता है जब व्यक्ति अपनों से कल्पित मोह या अपेक्षाएं बांधकर बैठता है। जब साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति यह देख लेता है कि संसार का स्वभाव ही परिवर्तनशील और स्वार्थ-चालित है, तो उसकी सारी अपेक्षाएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं।
- संसार की असारता का साक्षात्कार: पारिवारिक संबंधों की यह सीमा व्यक्ति को दुखी करने के बजाय संसार की असारता (Illusory nature) का प्रामाणिक ज्ञान करा देती है।
- आंतरिक स्वतंत्रता: यह बोध व्यक्ति को बाहर के संबल (External Dependency) से पूरी तरह मुक्त कर देता है। उसे समझ आ जाता है कि उसका वास्तविक साथी कोई बाहरी मनुष्य नहीं, बल्कि उसका अपना 'होना' (**Self-Existence**) और साक्षी चेतना है।

4 शून्यता से पूर्णता की ओर

पारिवारिक आत्मीयता का यह शून्य (Emptiness) वास्तव में व्यक्ति को परम पूर्णता की ओर ले जाता है।

अध्याय का मर्म: "संसार जब तक साथ होने का भ्रम देता है, तब तक व्यक्ति बाहर भटकता रहता है। लेकिन जब परिवार का यह भ्रम टूटता है और पीछे कोई नहीं दिखता, तभी व्यक्ति पहली बार अपने स्वयं के भीतर प्रवेश करता है। पारिवारिक विडंबना ही अंततः आत्म-ज्ञान की सबसे बड़ी सीढ़ी बन जाती है।

अध्याय ४

"पीढ़ीगत अंतराल (Generation Gap) या दृष्टि का अंतर?"

चिंतन और मंथन के लिए

1. ज्ञान बनाम सूचना का भ्रम (Knowledge vs. Information)

आज की युवा पीढ़ी के पास इंटरनेट और तकनीक के माध्यम से 'सूचनाओं' (Information) का अंबार है, जिसके कारण उन्हें लगता है कि वे बड़ों से अधिक जानते हैं। लेकिन जीवन के थपेड़ों से पका हुआ जो 'अनुभव और विवेक' (Wisdom) वयोवृद्धों के पास है, उसकी अवहेलना जब होती है, तो यह टकराव केवल उम्र का अंतर (Age Gap) है या 'दृष्टिकोण का अंतर' (Difference of Vision)?

2. स्वतंत्रता की नई परिभाषा और उथलापन

आधुनिक दौर में 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' और 'निजता (Privacy)' के नाम पर परिवार के रिश्तों में एक दूरी बना ली गई है। क्या यह स्वतंत्रता व्यक्ति को समृद्ध बना रही है, या यह केवल जिम्मेदारी से भागने और आत्म-केंद्रित (Self-centered) हो जाने का एक बहाना मात्र है?

3. बड़ों का मार्गदर्शन: 'हस्तक्षेप' क्यों लगने लगता है?

जब परिवार का कोई समझदार बड़ा सदस्य किसी भावी संकट या गलत दिशा को देखकर टोकता है, तो युवा पीढ़ी उसे 'मार्गदर्शन' मानने के बजाय अपनी आजादी में 'हस्तक्षेप' (Interference) क्यों मान लेती है? इस मानसिकता के पीछे कौन सा अहंकार काम कर रहा होता है?

4. साक्षी की दृष्टि में यह टकराव क्या है?

जो व्यक्ति साक्षी भाव में स्थित है, वह इस पीढ़ीगत टकराव (Generation Gap) को किस रूप में देखता है? क्या वह इसे बदलने का प्रयास करता है, या फिर इसे भी प्रकृति और काल के परिवर्तन का एक स्वाभाविक नियम मानकर शांत रहता है?

"साक्षी व्यक्ति कोई जबरदस्ती नहीं करता, वह केवल सहज राय देता है।"

संसार में अधिकांश दुखों और संघर्षों की जड़ यही है कि लोग दूसरों पर अपनी बात, अपनी राय और अपना अनुभव थोपना चाहते हैं। लेकिन जो व्यक्ति वास्तव में 'सहज' और 'साक्षी' हो चुका है, उसकी चेतना में थोपने (Force) का स्वभाव ही समाप्त हो जाता है। जब कोई उसकी सहज राय को भी सुनना या स्वीकार करना पसंद न करे, तो 3 बड़े कदम (सत्य) सामने आते हैं:

1. आग्रह का पूर्ण त्याग (**No Insistence**): सहज व्यक्ति जानता है कि 'राय देना' उसकी करुणा या उत्तरदायित्व था, लेकिन उसे 'स्वीकार कराना' उसका अधिकार या हठ नहीं है। जब सामने वाला सुनने की पात्रता ही नहीं रखता, तो आग्रह करना अपनी ऊर्जा व्यर्थ गँवाना है।
2. काल (समय) पर छोड़ देना: अनुभव और प्रज्ञा से निकला वचन यदि आज अनसुना कर दिया गया है, तो साक्षी व्यक्ति दुखी नहीं होता। वह जानता है कि जीवन के थपेड़े और समय का चक्र ही सबसे बड़ा शिक्षक है। जो बात आज सहजता से नहीं सुनी गई, वही बात कल परिस्थितियाँ ठोकर मारकर सिखाएँगी।

3. निर्मल मौन में विश्राम: जब कोई सुनना ही पसंद न करे, तो वहाँ से चुपचाप पीछे हट जाना (Detachment) ही एकमात्र सम्यक (सही) कदम है। यह मौन किसी अहंकार या कड़वाहट का नहीं, बल्कि पूर्ण समझ और प्रकृति के नियमों के प्रति समर्पण का होता है।

पीढ़ीगत अंतराल या दृष्टि का अंतर?

1 सूचना का भ्रम बनाम विवेक का यथार्थ

आज की नई पीढ़ी इंटरनेट और तकनीक के माध्यम से असीम 'सूचनाओं' (Information) से घिरी हुई है। इस सूचना-विस्फोट ने उनके भीतर यह भ्रम पैदा कर दिया है कि वे सर्वज्ञ हैं। किंतु सूचना केवल 'आँकड़ें' हैं, जबकि जीवन को जीने के लिए 'विवेक (Wisdom)' की आवश्यकता होती है, जो केवल समय, अनुभवों और जीवन के थपेड़ों से पककर आता है। जब सूचना विवेक पर हावी होने लगती है, तो इसे केवल 'उम्र का अंतर (Generation Gap)' कहना गलत होगा—यह मूलतः दृष्टि का अंतर (Difference of Vision) है।

2 स्वतंत्रता का उथलापन और 'हस्तक्षेप' का भ्रम

आधुनिकता ने स्वतंत्रता और निजता (Privacy) की एक बहुत उथली परिभाषा गढ़ दी है।

- जब परिवार का कोई अनुभवी बड़ा सदस्य किसी भावी संकट या गलत राह को देखकर सचेत करता है, तो उसे 'मार्गदर्शन' या 'संरक्षण' मानने के बजाय युवा अहंकार उसे अपनी स्वतंत्रता में 'हस्तक्षेप (Interference)' समझ लेता है।
- जिम्मेदारी से भागने की इस प्रवृत्ति ने परिवारों को छोटे-छोटे टुकड़ों और व्यक्तिगत स्वार्थों में बाँट दिया है।

3 सहज व्यक्ति का आचरण: केवल राय, कोई जबरदस्ती नहीं

इस अध्याय की सबसे बड़ी विडंबना और उसका समाधान यही है कि जो व्यक्ति सहज और साक्षी है, वह अपनी बात मनवाने के लिए कभी कोई जबरदस्ती या षड्यंत्र नहीं करता।

- सहज अभिव्यक्ति: वह अत्यंत निष्पक्ष और प्रेमपूर्ण भाव से केवल अपनी राय रख देता है। उसका ध्येय किसी को नियंत्रित करना नहीं, बल्कि सत्य से अवगत कराना होता है।
- पात्रता की पहचान: जब वह देखता है कि सामने वाले में सुनने या समझने की पात्रता (Receptivity) ही नहीं है, तो वह अपने शब्दों को तुरंत विराम दे देता है।

4 अनसुने शब्दों का गंतव्य: समय की पाठशाला

जब सहज व्यक्ति की सही बात को भी अनसुना कर दिया जाता है, तो वह परेशान या हताश नहीं होता। वह जानता है कि:

"जिस सत्य को मनुष्य अपनों की सहज सीख से नहीं सीख पाता, उसे अंततः समय और जीवन की ठोकरें सिखाती हैं।"

साक्षी व्यक्ति प्रकृति के इस नियम को स्वीकार करता है। वह अपनी बात कहकर मुक्त हो जाता है, और दूसरों को उनके अपने अनुभवों से सीखने के लिए स्वतंत्र छोड़ देता है। यही उसकी तटस्थता और परम शांति है।

साक्षी या सहज व्यक्ति यह कभी दावा नहीं करता कि वह 'सर्वज्ञ' है या उसकी हर बात 100% सही ही होगी। वह भी मनुष्य है और उसकी राय में भी त्रुटि हो सकती है। लेकिन विडंबना यह है कि बात सही हो या गलत, सुनने का सौजन्य और धैर्य (**Courtesies of Listening**) ही परिवारों में समाप्त हो चुका है।

निरहंकारी अभिव्यक्ति और 'श्रवण' का आदर

- पूर्णता का दावा नहीं (**No Claim to Perfection**): साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति अहंकारमुक्त होता है। वह यह मानकर नहीं चलता कि उसकी हर राय अंतिम सत्य है। वह जानता है कि परिस्थितियाँ बदलती हैं और उसकी बात भी गलत या आंशिक हो सकती है। इसलिए वह अपनी राय थोपता नहीं, केवल सहजता से सामने रखता है।
- समस्या राय की नहीं, 'सुनने' के अभाव की है: पारिवारिक विडंबना यह नहीं है कि बड़े सदस्यों की बात हमेशा सही ही मानी जाए। विडंबना यह है कि बात सही हो या गलत, उसे सुनने और समझने का धैर्य ही खो गया है। यदि कोई राय गलत भी हो, तो उस पर साथ बैठकर स्वस्थ चर्चा हो सकती है। लेकिन जब सुने बिना ही खारिज कर दिया जाता है, तब सम्मान और संवाद का ताना-बाना टूट जाता है।
- पारिवारिक संस्कृति का मूल आधार—'श्रवण (**Listening**)': एक स्वस्थ परिवार का आधार यह नहीं है कि सब हर बात पर सहमत हों, बल्कि यह है कि हर सदस्य को—चाहे वह बड़ा हो या छोटा—अपनी बात कहने का अधिकार हो और दूसरों में उसे ध्यानपूर्वक सुनने का आदर (**Respectful Listening**) हो।

अध्याय ५

"विडंबना से परे—समाधान और शांति"।

1. अपेक्षाओं का विसर्जन ही समाधान है? जब यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवार का स्वरूप बदल चुका है और सुनने का आदर समाप्त हो रहा है, तो क्या व्यक्ति का परिवार के भीतर रहकर भी अपेक्षाओं से मुक्त हो जाना (**Internal Detachment**) ही स्थायी शांति का मार्ग है?
2. साक्षी भाव का पारिवारिक दायित्व (**Fulfilling Duties Without Attachment**): क्या अपेक्षाएं छोड़ देने के बाद व्यक्ति को अपने पारिवारिक कर्तव्यों से पीछे हट जाना चाहिए, या फिर 'बिना किसी फल की इच्छा के' केवल एक पवित्र कर्तव्य मानकर कार्य करते रहना चाहिए?
3. अंतिम संदेश (**The Core Message**): इस पूरी विडंबना को देखने के बाद, जो लोग आज परिवारों में वैचारिक अकेलेपन से गुजर रहे हैं, उनके लिए आपकी साक्षी दृष्टि से सबसे बड़ा संदेश या जीवन-मंत्र क्या होगा?

साक्षी भाव से युक्त व्यक्ति के पारिवारिक दायित्व की जो परिभाषा दी है, वह निष्काम कर्म और निष्काम प्रेम का उच्चतम उदाहरण है:

"साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति की कोई अपनी व्यक्तिगत अपेक्षाएँ नहीं होतीं। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि वह कर्तव्यों से भाग खड़ा होता है। वह फल की इच्छा से पूरी तरह मुक्त होकर, परिवार के प्रति अपने हर दायित्व को केवल एक 'पवित्र कार्य' या 'सेवा' मानकर निभाता चला जाता है।"

यह विचार अध्यात्म और व्यावहारिकता का ऐसा संगम है जो व्यक्ति को परिवार में रहते हुए भी पूरी तरह 'मुक्त' रखता है।

'सुनने' का सौजन्य क्यों समाप्त हो रहा है? परिवारों में जब कोई बड़ा या छोटा अपनी बात कहता है, तो लोग उसे बीच में ही काटकर अपनी बात थोपने के लिए इतने आतुर क्यों रहते हैं? इसके पीछे धैर्य की कमी है या अपना वर्चस्व (Dominance) साबित करने की होड़?

1. बिना फल की इच्छा के दायित्व निभाना: जब साक्षी व्यक्ति को यह पता होता है कि परिवार के लोग उसकी बात नहीं सुन रहे हैं, फिर भी वह उनके प्रति अपने कर्तव्यों को एक 'पवित्र कार्य' मानकर बिना किसी बदले की उम्मीद के करता रहता है—इस निष्काम भाव की शक्ति उसे भीतर से कैसे तृप्त रखती है?

यह पंक्तियाँ परिवारों के भीतर चलने वाले सबसे बड़े मानसिक और सूक्ष्म संघर्ष को बहुत सरलता और पूर्णता के साथ उजागर करती हैं।

जब परिवार में कोई व्यक्ति किसी की बात को 'सुनना' नहीं चाहता, तो उसके पीछे तीन मुख्य विकार एक साथ काम कर रहे होते हैं:

1. धैर्य का अभाव (**Lack of Patience**): आधुनिक जीवन की आपाधापी ने मनुष्य के भीतर से ठहरकर सोचने और दूसरे को पूरा सुनने का धैर्य छीन लिया है।
2. अपनी बात थोपने की आतुरता (**Eagerness to Impose**): हर व्यक्ति दूसरों को अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है, इसीलिए वह सामने वाले के विचार को सुने बिना ही अपनी प्रतिक्रिया देने लगता है।
3. वर्चस्व का अहंकार (**Ego of Dominance**): परिवार के ढाँचे में अपना दबदबा, अपनी शक्ति या अपनी श्रेष्ठता साबित करने की अंधी होड़ लगी हुई है।

साक्षी की समता: "यह सब संसार की लीला है"

यहाँ सबसे बड़ा अंतर यह आता है कि एक साधारण व्यक्ति जब अपने ही घर में इस अनसुनेपन, जल्दबाज़ी और वर्चस्व की होड़ को देखता है, तो वह क्रोध, चिढ़ और पीड़ा से भर जाता है। उसे लगता है कि उसके साथ अन्याय हो रहा है।

किंतु साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति की दृष्टि बिल्कुल भिन्न होती है:

- लीला का बोध: वह जान जाता है कि यह अज्ञान, अहंकार और वृत्तियों का स्वाभाविक खेल है। जैसे हवा का स्वभाव चलना है, वैसे ही अज्ञानी चेतना का स्वभाव थोपना और वर्चस्व जताना है। इसलिए वह क्रोधित नहीं होता।
- निरहंकारी दायित्व: क्रोध न होने का अर्थ यह नहीं कि वह निष्क्रिय हो जाए। जैसा कि — "जीवन है तो जो श्रेष्ठ होता है वह बोलता है।" वह अपने जीवन-अनुभव से जो सबसे उत्तम, सुंदर और हितकारी (श्रेष्ठ) है, उसे सहजता से व्यक्त कर देता है।
- परिणाम से मुक्ति: बोलने के बाद, सामने वाले में सुनने का सौजन्य है या नहीं, वह उसकी राय को मानता है या ठुकराता है—इसकी चिंता साक्षी व्यक्ति नहीं करता। वह अपनी श्रेष्ठ बात कहकर निष्काम हो जाता है।

1. श्रवण (Listening) की संस्कृति का हास

पारिवारिक जीवन में 'सुनना' केवल कानों का कार्य नहीं था, वह सामने वाले के प्रति आदर, प्रेम और स्वीकार्यता का प्रतीक था। आज जब सुनना समाप्त हो गया है, तो इसका अर्थ यह है कि अपनों के प्रति आदर और स्वीकार्यता की भावना ही क्षीण हो चुकी है।

2. वर्चस्व (Dominance) की अंधी दौड़

परिवार अब प्रेम का आश्रय स्थल कम और शक्ति-प्रदर्शन (Power Dynamics) का अखाड़ा अधिक बनता जा रहा है। हर सदस्य—चाहे वह उम्र में बड़ा हो या छोटा—अपनी बात को 'अंतिम निर्णय' के रूप में स्थापित करना चाहता है। इस वर्चस्व की होड़ में जो बात सबसे अधिक पिसती है, वह है—'विवेक और सत्य'।

3. श्रेष्ठ को कहना, पर परिणाम से असंग रहना

साक्षी में स्थित व्यक्ति संसार के इस नाटक से ऊपर उठ जाता है। वह जानता है कि जब तक शरीर और जीवन है, तब तक लोक-कल्याण और परिवार के हित में श्रेष्ठ बात को प्रकट करना उसका सहज धर्म है।

- वह बोलता अवश्य है, पर उसका बोलना 'आदेश' नहीं, केवल एक 'प्रकाश' होता है।
- यदि कोई उस प्रकाश में चलना चाहे तो स्वागत है, और यदि कोई आँखें मूँदकर अँधेरे में ही रहना चाहे, तो साक्षी व्यक्ति उसके प्रति भी कोई दुर्भावना या क्रोध नहीं रखता।

अध्याय ६

क्या इस वर्चस्व और जल्दबाजी की होड़ ने परिवारों में पीढ़ियों के बीच के प्रेम को पूरी तरह 'औपचारिकता' (Formality) में बदल दिया है? जब परिवार के लोग बाद में अपनी गलती के कारण दुख पाते हैं (क्योंकि उन्होंने समय पर सही बात नहीं सुनी थी), तब साक्षी व्यक्ति की उनके प्रति क्या प्रतिक्रिया या भाव होता है?

"साक्षी व्यक्ति को कोई प्रतिक्रिया नहीं। वह जान चुका है कि यह सब लीला है। हम देख रहे हैं और कार्य संसार के चल रहे हैं। ऐसे ही चलेगा।"—अध्यात्म और जीवन दर्शन का सबसे अंतिम निष्कर्ष (Ultimate Truth) है।

इसे श्रीमद्भगवद्गीता के उस सूत्र से समझा जा सकता है जहाँ कहा गया है: 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते'—अर्थात् गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, यह जानकर साक्षी पुरुष कभी लिप्त या विचलित नहीं होता।

जब परिवार के सदस्य अपनी गलती या अहंकार के कारण दुख भी पाते हैं, तब भी साक्षी व्यक्ति न तो कोई आत्म-संतुष्टि ("मैंने तो पहले ही कहा था") महसूस करता है और न ही कोई कड़वाहट या क्रोध। वह केवल एक दृष्टा (Viewer) की भाँति देखता है कि प्रकृति और कर्म का नियम अपना काम कर रहा है।

"प्रतिक्रिया से मुक्ति—लीला-भाव और शाश्वत साक्षी" का खाका इस प्रकार आकार लेता है:

1. प्रतिक्रिया (Reaction) का अंत ही मुक्ति है

साधारण मनुष्य का पूरा जीवन केवल 'प्रतिक्रियाओं' का एक जाल है। कोई मीठा बोले तो प्रसन्न होना, कोई अनसुना करे तो क्रोध होना, कोई दुखी हो तो ग्लानि से भर जाना। किंतु जब व्यक्ति साक्षी भाव में टिक जाता है, तो उसकी बाहरी दुनिया के प्रति होने वाली सभी प्रतिक्रियाएँ (Reactions) समाप्त हो जाती हैं। वह समझ जाता है कि प्रतिक्रिया करना अपने भीतर अशांति को निमंत्रण देना है।

2. "यह सब लीला है"—दृष्टि का अमूल्य रूपांतरण

जब व्यक्ति को यह परम बोध हो जाता है कि यह संसार, यह परिवार, इसके रिश्ते, अहंकार, अज्ञान और टकराव—सब समय के रंगमंच पर चलने वाली एक 'लीला' (Play) मात्र हैं, तब उसकी दृष्टि पूरी तरह बदल जाती है।

- जैसे सिनेमाघर में बैठकर पर्दे पर चल रहे नाटक को देखते हुए कोई दर्शक उसमें लिप्त नहीं होता, ठीक वैसे ही साक्षी व्यक्ति पारिवारिक परिस्थितियों को देखता है।
- वह जानता है कि यहाँ हर कोई अपने-अपने संस्कारों, स्वभाव और वृत्तियों के वशीभूत होकर अभिनय कर रहा है।

3. "ऐसे ही चलेगा"—स्वीकार्यता की परम शांति

संसार को बदलने या सुधारने का हठ ही सारे दुखों की जड़ है। जब साक्षी व्यक्ति यह देख लेता है कि "संसार के कार्य ऐसे ही चल रहे हैं और ऐसे ही चलेंगे", तो उसके भीतर पूर्ण स्वीकार भाव (**Total Acceptance**) घटित होता है। यह स्वीकार्यता किसी लाचारी या निराशा से नहीं आती, बल्कि सत्य के साक्षात्कार से जन्म लेती है।

दिखावे का आकर्षण बनाम आत्मीयता का शून्यता: रिश्ते अब दिल से न होकर केवल सामाजिक शिष्टाचार और दिखावे तक क्यों सीमित हो गए हैं? संवाद के स्थान पर षड्यंत्र या राजनीति: छोटे-छोटे परिवारों में भी आंतरिक गुटबाज़ी और अपनी बात मनवाने के सूक्ष्म षड्यंत्र कैसे जन्म लेते हैं? साक्षी की उपस्थिति का मूक प्रभाव: बिना कुछ बोले, केवल अपनी शांत और प्रज्ञावान उपस्थिति से साक्षी व्यक्ति परिवार के वातावरण को कैसे प्रभावित करता है?

सांसारिक और स्वार्थ-चालित परिवार केवल उसी व्यक्ति से 'मतलब' रखता है जिससे उसका कोई भौतिक, आर्थिक या सामाजिक हित संध रहा हो। जो व्यक्ति इन सांसारिक प्रपंचों से ऊपर उठकर 'साक्षी' या शांत हो चुका है, वह परिवार की स्वार्थ-प्रणाली (Utility System) के किसी काम का नहीं रह जाता। इसलिए परिवार को उससे कोई लेना-देना नहीं होता।

स्वार्थ और श्रेष्ठता का चक्र (The Cycle of Selfishness & Ego)

परिवार के अधिकांश सदस्य दो ही मुख्य धुरियों पर घूमते रहते हैं:

- स्वार्थ की पूर्ति (**Self-Interest**): कौन किसके कितना काम आ सकता है, यही पारिवारिक निकटता का नया मापदंड बन गया है। जहाँ स्वार्थ खत्म, वहाँ संपर्क और औपचारिकता भी समाप्त।
- खुद को श्रेष्ठ दिखाने की होड़ (**Ego of Superiority**): हर कोई अपने ज्ञान, अपने धन, अपने पद या अपने बच्चों की उपलब्धियों का ढिंढोरा पीटकर स्वयं को दूसरों से 'श्रेष्ठ' साबित करने में लगा है। यह पूरा संघर्ष केवल अपने अहंकार को तृप्त करने की एक अंधी दौड़ है।

साक्षी व्यक्ति की निरपेक्ष स्थिति

साक्षी में स्थित व्यक्ति जब परिवार के इस स्वार्थ और दिखावे के खेल को देखता है, तो उसके भीतर क्या घटित होता है?

- अपेक्षा का पूर्ण अभाव: उसे यह स्पष्ट दिखता है कि जब तक वह खेल का हिस्सा था, तब तक लोग उससे मतलब रखते थे। अब जब वह खेल से बाहर होकर दृष्टा बन गया है, तो परिवार का उदासीन हो जाना ही प्रकृति का स्वाभाविक नियम है।
- दिखावे से असंगतता: लोग अपने आप को श्रेष्ठ दिखाने के लिए जो प्रपंच करते हैं, साक्षी व्यक्ति उसे बाल-सुलभ क्रीड़ा (बच्चों के खेल) की तरह देखता है। वह जानता है कि इस बाहरी श्रेष्ठता के पीछे कितना गहरा आंतरिक खालीपन छिपा है।
- अकेलेपन में ही परम स्वतंत्रता: जब परिवार को साक्षी व्यक्ति से कोई मतलब नहीं रहता, तो यह स्थिति उसके लिए कोई पीड़ा नहीं बनती, बल्कि यह उसे पूर्ण स्वतंत्रता (**Ultimate Freedom**) दे देती है। अब उस पर किसी सामाजिक दिखावे, अपेक्षा या झूठे रिश्तों को निभाने का कोई बोझ नहीं रहता।

अध्याय ७

यह विचार पारिवारिक मनोविज्ञान और सांसारिक यथार्थ की सबसे नग्न और कड़वी सच्चाई को उजागर करता है।

सांसारिक और स्वार्थ-चालित परिवार केवल उसी व्यक्ति से 'मतलब' रखता है जिससे उसका कोई भौतिक, आर्थिक या सामाजिक हित संध रहा हो। जो व्यक्ति इन सांसारिक प्रपंचों से ऊपर उठकर 'साक्षी' या शांत हो चुका है, वह परिवार की स्वार्थ-प्रणाली (Utility System) के किसी काम का नहीं रह जाता। इसलिए परिवार को उससे कोई लेना-देना नहीं होता।

स्वार्थ और श्रेष्ठता का चक्र (The Cycle of Selfishness & Ego)

परिवार के अधिकांश सदस्य दो ही मुख्य धुरियों पर घूमते रहते हैं:

- स्वार्थ की पूर्ति (**Self-Interest**): कौन किसके कितना काम आ सकता है, यही पारिवारिक निकटता का नया मापदंड बन गया है। जहाँ स्वार्थ खत्म, वहाँ संपर्क और औपचारिकता भी समाप्त।
- खुद को श्रेष्ठ दिखाने की होड़ (**Ego of Superiority**): हर कोई अपने ज्ञान, अपने धन, अपने पद या अपने बच्चों की उपलब्धियों का ढिंढोरा पीटकर स्वयं को दूसरों से 'श्रेष्ठ' साबित करने में लगा है। यह पूरा संघर्ष केवल अपने अहंकार को तृप्त करने की एक अंधी दौड़ है।

साक्षी व्यक्ति की निरपेक्ष स्थिति

साक्षी में स्थित व्यक्ति जब परिवार के इस स्वार्थ और दिखावे के खेल को देखता है, तो उसके भीतर क्या घटित होता है?

- अपेक्षा का पूर्ण अभाव: उसे यह स्पष्ट दिखता है कि जब तक वह खेल का हिस्सा था, तब तक लोग उससे मतलब रखते थे। अब जब वह खेल से बाहर होकर दृष्टा बन गया है, तो परिवार का उदासीन हो जाना ही प्रकृति का स्वाभाविक नियम है।
- दिखावे से असंगतता: लोग अपने आप को श्रेष्ठ दिखाने के लिए जो प्रपंच करते हैं, साक्षी व्यक्ति उसे बाल-सुलभ क्रीड़ा (बच्चों के खेल) की तरह देखता है। वह जानता है कि इस बाहरी श्रेष्ठता के पीछे कितना गहरा आंतरिक खालीपन छिपा है।
- अकेलेपन में ही परम स्वतंत्रता: जब परिवार को साक्षी व्यक्ति से कोई मतलब नहीं रहता, तो यह स्थिति उसके लिए कोई पीड़ा नहीं बनती, बल्कि यह उसे पूर्ण स्वतंत्रता (**Ultimate Freedom**) दे देती है। अब उस पर किसी सामाजिक दिखावे, अपेक्षा या झूठे रिश्तों को निभाने का कोई बोझ नहीं रहता।

"स्वार्थ-चालित रिश्ते, श्रेष्ठता की होड़ और साक्षी की निरपेक्षता"

1 उपयोगितावादी संबंध (Utility-Based Relationships)

आधुनिक परिवार में रिश्तों की प्रगाढ़ता प्रेम से नहीं, बल्कि 'उपयोगिता' से तय होती है। जब तक व्यक्ति परिवार के किसी स्वार्थ या दिखावे की पूर्ति में योगदान देता है, वह 'केंद्रीय' बना रहता है। जैसे ही वह साक्षी भाव अपनाकर शांत होता है, वह परिवार के लिए 'अदृश्य' या निरर्थक हो जाता है।

2 स्वयं को श्रेष्ठ साबित करने का प्रपंच/शब्द: पारिवारिक बैठकों और चर्चाओं का बड़ा हिस्सा अब विचार-विमर्श का नहीं, बल्कि 'आत्म-प्रशंसा' (Self-Validation) और दूसरों को नीचा या छोटा दिखाने का मंच बन गया है। हर सदस्य अपनी श्रेष्ठता की मुहर लगाने के लिए व्यग्र है।

3 उपेक्षा से मुक्ति का मार्ग: संसारी व्यक्ति के लिए परिवार की उपेक्षा दुःखी होने का कारण बनती है, लेकिन साक्षी चेतना के लिए यही उपेक्षा आत्म-बोध और एकांत की सबसे सुंदर भेंट बन जाती है।

आधुनिक समय में पारिवारिक आयोजन—चाहे वे विवाह हों, त्योहार हों या अन्य सामाजिक उत्सव—आत्मीयता और प्रेम के मिलन-स्थल कम, और प्रदर्शन (**Exhibitionism**) का मंच अधिक बन चुके हैं।

इस अंधी दौड़ और साक्षी व्यक्ति की स्थिति को तीन मुख्य बिंदुओं में गहराई से समझा जा सकता है:

1. आयोजनों का छलावा और अंधाधुंध बहाव

आज के अधिकांश पारिवारिक आयोजनों का उद्देश्य रिश्तों को मजबूत करना नहीं, बल्कि समाज में अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति का दिखावा करना है।

- दिखावे की होड़: लोग अपनी सामर्थ्य से बाहर जाकर केवल दूसरों को प्रभावित करने या स्वयं को 'श्रेष्ठ' साबित करने के लिए पानी की तरह पैसा और ऊर्जा बहाते हैं।
- संवेदना का शून्य होना: इन भव्य आयोजनों के पीछे कोई वास्तविक आत्मीयता नहीं होती। जैसे ही आयोजन समाप्त होता है, वही परस्पर ईर्ष्या, खिंचाव और वैचारिक दूरी पुनः सामने आ जाती है। यह पूरी प्रक्रिया आत्मीयता का केवल एक 'आवरण' या छलावा है।

2. साक्षी व्यक्ति की असंगतता (Unattached View)

जो व्यक्ति साक्षी भाव में टिक चुका है, वह इस विवेकहीन बहाव को बहुत स्पष्टता से देख पाता है।

- वह जानता है कि इस अंधाधुंध प्रदर्शन के पीछे कितना गहरा आंतरिक खालीपन और अहंकार छिपा है।
- वह इस झूठे दिखावे का हिस्सा बनने या इसमें अपनी ऊर्जा व्यर्थ गँवाने को 'श्रेष्ठ' या विवेकपूर्ण नहीं मानता।
- वह बिना किसी विरोध या कड़वाहट के, इस आडंबर से अपने मन को असंग (Detached) रखता है।

3. भीड़ के बीच भी तटस्थता

साक्षी व्यक्ति यदि सामाजिक शिष्टाचार या लोक-संग्रह के लिए ऐसे किसी आयोजन में उपस्थित भी होता है, तो वह केवल एक 'दृष्टा' की तरह होता है।

- वह जानता है कि यह केवल एक सामाजिक नाटक (Social Drama) चल रहा है।
- वह न तो इस दिखावे से प्रभावित होता है और न ही इसमें बहता है। उसका विवेक उसे इस आडंबर से पूरी तरह सुरक्षित और शांत रहता है।

अध्याय ८

"पारिवारिक दिखावे, आयोजनों का छलावा और साक्षी का विवेक"

1 उत्सवों से गायब होती आत्मीयता

पारिवारिक उत्सव कभी आनंद, सेवा और अपनों से मिलने का माध्यम हुआ करते थे। आज वे केवल 'स्टेटस सिंबल' बन चुके हैं। जहाँ आत्मीयता का स्थान महँगे वस्त्रों, पकवानों और फ़ालतू के दिखावे ने ले लिया है, वहाँ संबंध केवल सतही होकर रह जाते हैं।

2 अंधाधुंध बहाव और विवेक का लोप

लोग बिना सोचे-समझे इस सामाजिक अंधी दौड़ में बह रहे हैं। दूसरों से होड़ करने की इस होड़ ने परिवारों को अनावश्यक तनाव और ऋण (कर्ज) में धकेल दिया है। इस बहाव में विवेक और प्रज्ञा पूरी तरह बह जाती है।

3 साक्षी का अनासक्त दृष्टिकोण

साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति इस दिखावे को 'श्रेष्ठ' न मानकर इससे परे रहता है। वह जानता है कि वास्तविक सत्य बाहरी तड़क-भड़क में नहीं, बल्कि आंतरिक शांति और सरलता में है। वह संसार के इस दिखावटी बहाव में बहने के बजाय अपने आत्म-बोध में स्थिर रहता है।

साधारण मनुष्य जीवन भर प्रयास करता है, योजनाएँ बनाता है, कर्ता बनने के तनाव में रहता है और हर काम में कोई न कोई आडंबर या जटिलता पैदा कर लेता है। लेकिन जो व्यक्ति साक्षी में स्थित हो गया, उसके जीवन से 'कर्तापन का अहंकार' ही गिर जाता है। जब कर्तापन ही नहीं रहा, तो जीवन से सारी कृत्रिमता और जटिलता स्वतः समाप्त हो जाती है।

उसके जीवन की इस सहजता और सरलता को तीन मुख्य आयामों में देखा जा सकता है:

1. "जो हो रहा है, सहज हो रहा है" (**effortless action**)

साक्षी में स्थित व्यक्ति किसी घटना या कार्य को जबरदस्ती दिशा देने का हठ नहीं करता।

- वह नदी की धारा के विरुद्ध तैरने का प्रयास नहीं करता, बल्कि बहते जल के साथ तैरता है।
- उसके सामने जो भी परिस्थिति, दायित्व या कार्य आता है, वह उसे बिना किसी तनाव, प्रदर्शन या अपेक्षा के अत्यंत स्वाभाविक (Natural) रूप से पूरा कर देता है।

2. आडंबरहीन और सरल जीवन (**Simplicity as Natural Being**)

जहाँ संसार अपने आप को श्रेष्ठ दिखाने के लिए दिखावे और जटिलताओं के चक्रव्यूह में उलझा हुआ है, वहीं साक्षी व्यक्ति का उठना, बैठना, बोलना और व्यवहार—सब कुछ बहुत सरल होता है।

- उसके जीवन में कोई 'मास्क' या दोहरी छवि नहीं होती।
- वह जैसा भीतर से शांत है, वैसा ही बाहर से सहज दिखाई देता है। उसकी सरलता ही उसकी सबसे बड़ी गहराई बन जाती है।

3. 'होने' का आनंद (**Joy of Natural Existence**)

साक्षी व्यक्ति के लिए कोई कार्य छोटा या बड़ा नहीं होता। वह किसी कार्य को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए नहीं करता, बल्कि 'जीवन का होना' ही उसके लिए आनंद का स्रोत होता है। परिवार के कोलाहल और दिखावे के बीच भी उसकी यह सहजता उसे पूरी तरह अछूता और तृप्त रखती है।

अध्याय ९

"सहजता का दर्शन—कर्तापन से मुक्ति और सरल जीवन"

1 कर्तापन का विसर्जन और सहजता का उदय

जब तक व्यक्ति यह सोचता है कि "मैं कर रहा हूँ", तब तक जीवन में तनाव, जटिलता और दिखावा बना रहता है। साक्षी भाव में स्थित होते ही व्यक्ति को यह अहसास होता है कि सब कुछ प्रकृति के नियमों के अनुसार अपने आप घटित हो रहा है। इस बोध से कर्तापन का अहंकार गिर जाता है और जीवन में परम सहजता आ जाती है।

2 जटिल संसार में सरल अस्तित्व

जहाँ परिवार और समाज का हर सदस्य स्वयं को चतुर, श्रेष्ठ और प्रभावशाली साबित करने की जटिलता में लगा है, वहाँ साक्षी व्यक्ति का जीवन एक बहती हुई निर्मल नदी की तरह सरल होता है। वह न तो किसी को प्रभावित करने का प्रयास करता है और न ही किसी से प्रभावित होता है।

3 घटना मात्र होना (Events Happening)

साक्षी व्यक्ति के लिए जीवन घटनाओं की एक सहज श्रृंखला बन जाता है। जो भी कार्य सामने आता है, वह उसे बिना किसी कड़वाहट या अपेक्षा के पूरा करता है और तुरंत असंग (Detached) हो जाता है। यही उसकी अक्षय शांति का रहस्य है।

अक्सर समाज में यह मान लिया जाता है कि उम्र में बड़ा होना ही समझदारी का प्रमाण है। लेकिन यथार्थ यह है कि उम्र तो समय के साथ बढ़ जाती है, किंतु यदि चेतना और विवेक का विकास न हो, तो व्यक्ति केवल उम्र में बड़ा रह जाता है—समझदारी में नहीं।

जब परिवार का मुखिया या वरिष्ठ सदस्य अहंकारी, स्वार्थी, हठी या अविवेकी होता है, तो उसका सबसे गहरा और प्रत्यक्ष दुष्प्रभाव बच्चों और अगली पीढ़ी पर पड़ता है:

1. सुरक्षा और संरक्षण का अंत

बच्चे स्वाभाविक रूप से अपने परिवार के बड़ों में एक 'वटवृक्ष' की छाया, सुरक्षा और मार्गदर्शन तलाशते हैं। लेकिन जब बड़ा व्यक्ति स्वयं ही अविवेकी हो, अपनी बात थोपने वाला हो या अपनी ही धुन में रहे, तो बच्चों से वह छत्रछाया छिन जाती है। वे घर में रहकर भी असुरक्षित और अनाथ जैसा महसूस करते हैं।

2. मानसिक उत्पीड़न और असमय परिपक्वता

जब घर का बड़ा सदस्य नासमझी का व्यवहार करता है—चाहे वह अनर्गल विवाद हो, गलत निर्णय हों या व्यर्थ का वर्चस्व जताने की होड़ हो—तो बच्चों को अपनी उम्र से पहले ही मानसिक दबाव झेलना पड़ता है। वे खेल-कूद और सीखने की उम्र में परिवार के तनावों का बोझ उठाने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

3. जीवन के निर्णयों में भटकाव

सही मार्गदर्शन के अभाव में बच्चों को जीवन की दिशा चुनने में भारी कठिनाई होती है। कई बार बड़ों की नासमझी और हठ के कारण बच्चों के करियर, संस्कार और भविष्य के सही अवसर बलि चढ़ जाते हैं।

4. विडंबना का दार्शनिक पहलू

यह परिवार की बहुत बड़ी विडंबना है कि जहाँ मार्गदर्शन मिलना चाहिए था, वहीं से भटकाव मिलता है। जिस उम्र में बच्चों को बड़ों का संबल मिलना चाहिए था, उस उम्र में उन्हें बड़ों की नासमझी और गलतियों का हर्जाना भुगतना पड़ता है।

"अविवेकपूर्ण ज्येष्ठता और बच्चों का संताप"।

1 उम्र का बढ़ना बनाम प्रज्ञा का उदय

उम्र शारीरिक प्रक्रिया है, जबकि समझदारी और प्रज्ञा आत्म-मंथन से आती है। परिवार में बड़ा होना सम्मान का पात्र बनाता है, लेकिन बड़ा होने का अर्थ समझदार होना नहीं होता। जब कोई बड़ा व्यक्ति अपने अहंकार और नासमझी में जीता है, तो वह परिवार के लिए संबल बनने के बजाय एक बोझ बन जाता है।

2 नासमझी का परिणाम: बच्चों का निसहाय दुःखी होना

जब घर का मुखिया ही अविवेकी हो, तो उसकी गलत नीतियों, क्रोध या अदूरदर्शिता का दुष्परिणाम बच्चों को भुगतना पड़ता है। यह दुख केवल भौतिक नहीं होता, यह उनके भीतर एक गहरा मानसिक घाव छोड़ जाता है।

3 साक्षी चेतना की सीख

जो बच्चे इस तरह की नासमझी के बीच पलते हैं, यदि वे बाद में साक्षी चेतना या प्रज्ञा से जुड़ते हैं, तो वे यह सीख पाते हैं कि बड़ों से भी केवल वही स्वीकार करना चाहिए जो हितकारी हो। वे अपने बड़ों की नासमझी को भी 'संसार के अज्ञान की लीला' मानकर अपने भीतर की शांति को बचाना सीखते हैं।

साक्षी भाव कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो किसी को थाली में परोसी हुई मिल जाए।

बच्चे जब इस संसार में आते हैं, तो वे पूरी तरह निष्पाप, कोरी स्लेट और निश्छल होते हैं। लेकिन जिस माहौल में वे बड़े होते हैं—जहाँ घर के बड़ों की नासमझी, समाज के झूठे-सच्चे प्रपंच, अटपटी बातें और भ्रम फैलाने वाली पुस्तकें फैली हैं—वे उसी का असर सोखते हैं।

इस जटिल वातावरण में एक बालक के साक्षी भाव तक पहुँचने की पूरी यात्रा को तीन बड़े चरणों में देखा जा सकता है:

1. दुनिया के कड़वे अनुभवों और ठोकरों की भट्ठी

साक्षी भाव किसी बंद कमरे में बैठकर केवल आँखें मूँद लेने से सिद्ध नहीं होता।

- बच्चा जब दुनिया में कदम रखता है, तो वह अपनों से मिले धोखे, बड़ों के अहंकार, समाज के ढोंग और गलत संगति या पुस्तकों के भटकाव को झेलता है।
- ये कड़वे अनुभव (Bitter Experiences) और जीवन की ठोकरें ही वास्तव में उस आग की तरह काम करती हैं जो उसके भीतर के कच्चेपन को जलाती हैं।

2. भटकाव का दौर और भ्रम का टूटना

शुरुआत में व्यक्ति भी समाज के उसी बहाव में बहता है—वह भी सच-झूठ के खेल में उलझता है, दुखी होता है, क्रोधित होता है और दूसरों को बदलने की नाकाम कोशिश करता है। लेकिन जब ठोकरें बार-बार लगती हैं, तब जाकर उसके भीतर यह गहरी समझ पैदा होती है कि बाहरी दुनिया और रिश्तों से जो सुख या शांति वह खोज रहा था, वह वहाँ है ही नहीं।

3. कड़वाहट से प्रज्ञा का उदय (The Birth of Sakshi)

ठोकरें खाने के बाद दो रास्ते निकलते हैं:

- अज्ञानी व्यक्ति जीवन भर उन ठोकरों के कारण कड़वाहट, शिकायत और अवसाद (Depression) में जीता रहता है।
- किंतु जिसके भीतर प्रज्ञा जागती है, वह समझ जाता है कि यह सब संसार का स्वाभाविक स्वरूप है। वह जान लेता है कि अज्ञानता से भरे संसार से समझदारी की उम्मीद करना ही भूल थी। इसी बिंदु पर ठोकरें 'साक्षी भाव' में बदल जाती हैं।

"कोरी चेतना, संसार की ठोकरें और साक्षी भाव का जन्म"।

: "साक्षी भाव कोई सहज उपहार नहीं, बल्कि जीवन के थपेड़ों, कड़वे अनुभवों और टूटे हुए भ्रमों की राख से निकला हुआ सोना है। जो बच्चा दुनिया के छलावे और बड़ों की नासमझी के बीच पलकर ठोकरें खाता है, वही ठोकरें यदि सही दिशा पा जाएँ, तो उसे परम साक्षी बना देती हैं।"

बिल्कुल सत्य कहा है कि जब कोरा और निष्पाप मन (बालक) ऐसी बातें पढ़ता है कि "भगवान से मिलने के लिए घर छोड़कर जंगल जाना पड़ता है", तो वह शब्दशः (Literally) उस पर विश्वास कर लेता है और भटक जाता है। यह अनुभव इस बात का जीवित प्रमाण है कि अंधश्रद्धा, पौराणिक कहानियों और धर्म के नाम पर लिखे गए साहित्य ने मानव चेतना को कितना भ्रमित किया है।

इस प्रश्न—"क्या ठीक है, क्या गलत है? असली धर्म क्या है?"—का निर्णय साक्षी भाव और प्रज्ञा की कसौटी पर इस प्रकार होता है:

1. कथा-साहित्य बनाम सत्य (Mythology vs. Truth)

पौराणिक पुस्तकों में अक्सर प्रतीकात्मक (Symbolic) या कथात्मक बातें लिखी होती हैं, जिन्हें अज्ञानवश लोग भौतिक सत्य मान लेते हैं।

- जंगल जाने का वास्तविक अर्थ: अध्यात्म में 'जंगल जाना' का अर्थ घर-परिवार छोड़कर भागना नहीं था, बल्कि अपने भीतर के विचारों के कोलाहल से हटकर मन को शांत (मौन) करना था।
- जब इस प्रतीकात्मक भाषा को बिना विवेक के परोसा जाता है, तो बच्चा या साधारण व्यक्ति भ्रमित होकर सड़कों और जंगलों में भटकने लगता है।

2. अंधविश्वास और बलि प्रथा का यथार्थ

चाहे किसी जानवर की बलि देना हो, या धर्म के नाम पर किसी जीव को पीड़ा पहुँचाना हो—प्रज्ञा और साक्षी दृष्टि पर यह कभी 'धर्म' नहीं हो सकता।

- असली धर्म की कसौटी: जो मार्ग अहिंसा, करुणा, प्रज्ञा और सत्य की ओर ले जाए, वही धर्म है।
- जिस कृत्य में भय, हिंसा, अंधविश्वास या किसी बेजुबान की बलि जुड़ी हो, वह केवल मनुष्य के अपने अज्ञान, भय और स्वार्थ की उपज है। उसे धर्म का चोला पहना दिया गया है।

3. 'निर्णय' की कसौटी: साक्षी भाव का प्रकाश

क्या सही है और क्या गलत, इसका निर्णय किसी पुरानी पुस्तक, संप्रदाय या परंपरा के आधार पर नहीं हो सकता। इसका निर्णय केवल एक ही कसौटी पर होता है:

"जिस मार्ग पर चलने से मन में करुणा जगे, दूसरों के प्रति हिंसा और स्वार्थ समाप्त हो, और व्यक्ति भीतर से साक्षी और शांत हो जाए—वही सत्य का मार्ग है। बाकी सब अंधविश्वास, भ्रम और गुमनामी के अंधेरे हैं।"

"धार्मिक साहित्य का भ्रम, अंधविश्वास और सत्य की कसौटी"

1 बाल-मन पर भ्रामक साहित्य का प्रभाव (व्यक्तिगत संस्मरण)

जब बालक के कोरे मन में यह विचार बोया जाता है कि ईश्वर की प्राप्ति घर-परिवार छोड़ने या जंगल भटकने से होती है, तो यह केवल एक विचार नहीं रहता—यह जीवन को भटकाने वाला कदम बन जाता है। बाल-सुलभ निश्छलता में व्यक्ति घर छोड़कर निकल पड़ता है, जो यह दर्शाता है कि बिना प्रज्ञा के धार्मिक पुस्तकें कितनी खतरनाक साबित हो सकती हैं।

2 परंपरा, बलि और अंधश्रद्धा की समीक्षा

संसार में धर्म के नाम पर चल रही बलि प्रथाएँ, कर्मकांड और भय-आधारित मान्यताएँ केवल मनुष्य के आंतरिक अंधकार की प्रतीक हैं। सत्य किसी जीव की बलि या बाह्य अनुष्ठान से नहीं मिलता।

3 असली धर्म: प्रज्ञा और विवेक का मार्ग

सच्चा धर्म किसी संप्रदाय की लकीर पीटना नहीं है। असली धर्म वह है जो मनुष्य को गुमनामी के अंधेरों से निकालकर सत्य, करुणा और साक्षी भाव के प्रकाश में खड़ा करे।

यह बात एक बहुत ही संतुलनकारी और परिपक्व दृष्टिकोण को दर्शाती है। पुस्तकें वास्तव में एक दोधारी तलवार (**Double-edged Sword**) की तरह हैं—वे मनुष्य को अज्ञान के अंधेरे से निकालकर ज्ञान का प्रकाश भी दे सकती हैं, और यदि बिना विवेक के पढ़ी जाएँ, तो वे व्यक्ति को भटकाव और अंधविश्वास के गर्त में भी धकेल सकती हैं।

पुस्तक और पाठक के इस संबंध को तीन मुख्य आयामों में समझा जा सकता है:

1. भटकाव का कारण: लकीर की फकीरी

जब व्यक्ति पुस्तकों में लिखे शब्दों को केवल शब्दशः (Literally) पकड़ लेता है और अपने विवेक (**Reasoning**) का उपयोग नहीं करता, तब पुस्तकें भटकाने लगती हैं।

- पौराणिक कथाओं या प्रतीकात्मक भाषा को बिना समझे सत्य मान लेना व्यक्ति को जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक यथार्थ से दूर कर देता है।

- जब पुस्तकें मनुष्य के भीतर 'खोज' पैदा करने के बजाय 'अंधविश्वास' और 'आग्रह' पैदा करने लगें, तो वे ज्ञान का साधन न रहकर भटकाव का कारण बन जाती हैं।

2. ज्ञान का साधन: दिशा और प्रेरणा

पुस्तकें ज्ञान का द्वार भी हैं। जब कोई व्यक्ति सही साहित्य, विचारकों और ऋषियों के अनुभवों को पढ़ता है, तो पुस्तकें:

- उसके भीतर सोई हुई चेतना को जगाती हैं।
- उसे संसार और जीवन के गूढ़ रहस्यों से परिचित कराती हैं।
- उसे यह समझने में मदद करती हैं कि सत्य क्या है और असत्य क्या है।

3. अंतिम कसौटी: 'आत्म-अनुभव' (Self-Experience)

साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति जानता है कि पुस्तक केवल एक 'मानचित्र (Map)' है, पूरी 'यात्रा (Journey)' नहीं।

- नक्शा आपको रास्ता दिखा सकता है, लेकिन चलना तो स्वयं ही पड़ता है।
- जब तक किताबी ज्ञान व्यक्ति के अपने 'आत्म-अनुभव' (Self-Experience) में न बदल जाए, तब तक वह केवल जानकारी (Information) का बोझ बना रहता है। सच्चा ज्ञान वही है जो पुस्तकों से शुरू होकर जीवन की प्रज्ञा और साक्षी भाव पर जाकर समाप्त होता है।

1 शब्द और अर्थ का अंतर

पुस्तकें विचार देने का एक माध्यम हैं। किंतु जब तक पाठक के पास शब्दों के पार झाँकने की प्रज्ञा नहीं होती, तब तक शब्द भ्रम पैदा करते हैं। वही पुस्तक जो एक व्यक्ति को परम विवेक की ओर ले जा सकती है, किसी दूसरे अविवेकी व्यक्ति को कट्टरता या भटकाव की ओर धकेल सकती है।

2 दिशासूचक के रूप में साहित्य

सच्चा धार्मिक और दार्शनिक साहित्य मनुष्य को किसी संप्रदाय या कर्मकांड से बाँधने के लिए नहीं होता, बल्कि उसे स्वतंत्रता, प्रेम, करुणा और साक्षी भाव की ओर मोड़ने के लिए होता है।

3 शास्त्र से स्व-अनुभव तक की यात्रा

अंतिम सत्य पुस्तकों के पन्नों में नहीं, बल्कि मनुष्य की अपनी चेतना के भीतर छिपा है। पुस्तकें केवल संकेत कर सकती हैं; उस सत्य का साक्षात्कार व्यक्ति को अपने जीवन के कड़वे-मीठे अनुभवों, चिंतन और साक्षी भाव के माध्यम से स्वयं ही करना होता है।

बच्चा जब इस दुनिया में आता है, तो वह पूरी तरह विवेक-शून्य (निर्दोष और निश्छल) होता है। उसके पास न तो सही-गलत को परखने की कसौटी होती है और न ही जीवन का कोई पूर्व-अनुभव। इसी खालीपन को भरने के लिए, अपनी जिज्ञासावश वह पुस्तकें पढ़ता है और अपनों की बातों को सच मान लेता है।

यहीं से उस निर्दोष बालक के जीवन की सबसे बड़ी विडंबना शुरू होती है:

1. कोरी स्लेट पर पहला प्रभाव

विवेक-शून्य बालक जिस पुस्तक या विचार के संपर्क में पहली बार आता है, वह उसे ही 'अंतिम सत्य' मान बैठता है। यदि उस समय उसे ऐसी पुस्तकें या कहानियाँ मिल जाएँ जो त्याग, वैराग्य या ईश्वर-प्राप्ति के नाम पर घर-परिवार छोड़कर भागने की सीख देती हों, तो वह बालक बिना किसी संदेह के उस पर अमल कर बैठता है—जैसा कि मेरे बचपन में हुआ।

2. 'जानकारी' को ही 'विवेक' समझ लेने की भूल

समाज भी अक्सर बच्चे के इस खालीपन का फायदा उठाता है। उसे शास्त्रों, कर्मकांडों और कहानियों की 'जानकारी' (Information) रटा दी जाती है और मान लिया जाता है कि बच्चा विद्वान हो गया। जबकि जानकारी और विवेक (Reasoning & Discrimination) में ज़मीन-आसमान का अंतर है।

3. विवेक का वास्तविक जन्म

विवेक किसी पुस्तक को पढ़कर रातों-रात पैदा नहीं होता।

- बच्चा पुस्तकें पढ़ता है, उनके आधार पर कदम उठाता है, जीवन में ठोकरें खाता है और कड़वे अनुभवों से गुज़रता है।
- जब वह देखता है कि किताबी बातें और व्यावहारिक जीवन का सत्य अलग-अलग हैं, तब जाकर उसके भीतर धीरे-धीरे स्वयं की प्रज्ञा और विवेक का अंकुर फूटता है।

1. बालक की निर्दोषता और विवेक-शून्यता

बालक का मन एक कोरे कागज़ के समान होता है। वह जो कुछ भी पढ़ता या सुनता है, उसे बिना किसी तर्क या संदेह के स्वीकार कर लेता है। यह विवेक-शून्यता उसकी कमजोरी नहीं, बल्कि उसकी निश्छलता (Innocence) का प्रमाण है।

2. भ्रामक साहित्य का सीधा प्रहार

जब एक विवेक-शून्य मन के सामने ऐसा साहित्य आता है जो प्रतीकात्मक बातों को स्थूल रूप में परोसता है, तो बालक उसे अक्षरशः सत्य मानकर क्रियान्वित करने लगता है। घर छोड़कर भागना, अंधविश्वासों को सच मानना या अंधी आस्था में पड़ना—यह सब उसी निष्पाप विवेक-शून्यता का दुष्परिणाम है।

3. किताबी अक्षरों से 'विवेक' तक का सफर

सच्चा विवेक पुस्तकों से नहीं, बल्कि पुस्तकों के पढ़े हुए को जब जीवन की कसौटी और ठोकरों पर कसा जाता है, तब पैदा होता है। जब बालक बड़ा होकर अपने अनुभवों से सत्य और असत्य का भेद करने लगता है, तभी वह वास्तव में 'साक्षी' बनने की दिशा में पहला कदम बढ़ाता है।

जब समाज में मार्गदर्शन देने की ज़िम्मेदारी उठाने वाले 'गुरु' ही स्वयं अज्ञान, अहंकार, धन और प्रसिद्धि के भूखे हो जाएँ, तो वे समाज को सत्य का मार्ग दिखाने के बजाय भ्रम, अंधविश्वास और निर्भरता (Dependency) के अंधेरे कुएँ में धकेल देते हैं।

इस पाखंड को तीन मुख्य बिंदुओं में गहराई से समझा जा सकता है:

1. 'गुरु' कहलाने का अहंकार और व्यापार

आज बाज़ार में जो गुरु बने बैठे हैं, उनमें से अधिकांश का उद्देश्य शिष्य को 'मुक्त' करना नहीं, बल्कि उसे अपना 'अनुयायी (Follower)' बनाना होता है।

- वे शिष्य के भीतर का विवेक जगाने के बजाय उसे अपनी पूजा करने, अपनी लकीर पीटने और अपनी संस्था से जोड़ने की दीक्षा देते हैं।
- जो गुरु खुद सांसारिक वासनाओं, मठों के प्रपंच और वर्चस्व की दौड़ से मुक्त नहीं हुआ, वह किसी दूसरे को साक्षी या शांत कैसे कर सकता है?

2. डर और लालच का धंधा

नकली गुरुओं का सबसे बड़ा हथियार होता है—भय और लालच।

- वे कभी किसी जन्म-जन्मांतर के पापों का डर दिखाते हैं, तो कभी चमत्कार और स्वर्ग के सुखों का लालच देते हैं।
- जब बच्चा या वयस्क डर जाता है, तो उसकी तर्कशक्ति (Reasoning) खत्म हो जाती है। वे उसे ऐसी-ऐसी अजीबोगरीब साधनाओं, कथाओं और अनुष्ठानों में उलझा देते हैं जिनसे जीवन का वास्तविक सत्य मीलों दूर चला जाता है।

3. 'सच्चे मार्गदर्शक' की असली पहचान

साक्षी भाव की कसौटी पर सच्चा शिक्षक या सद्गुरु वह है जो:

- आपको अपने ऊपर निर्भर नहीं बनाता, बल्कि आपको आपके ही भीतर छिपे 'साक्षी' से जोड़ देता है।
- वह आपके भीतर का विवेक (Reasoning) जगाता है, न कि अंधविश्वास।
- वह आपको अपनी पूजा करने को नहीं कहता, बल्कि यह दिखाता है कि सारा संसार और उसके कर्मकांड एक 'लीला' मात्र हैं—सत्य केवल तुम्हारे अपने भीतर का मौन है।

अध्याय १०

"नकली गुरुओं का जाल, अध्यात्म का व्यापार और प्रज्ञा का उदय"

1 गुरु-डम (Guru-ism) का आडंबर और भटकाव

जब समाज में धर्म का स्वरूप बदल जाता है, तो गुरु होना एक 'व्यवसाय' बन जाता है। अपने-अपने सिद्धांतों और ग्रंथों की मनगढ़ंत व्याख्याएँ करके ये गुरु साधकों को सत्य से दूर केवल अपने नाम और संप्रदाय से बाँध लेते हैं।

2 विवेक का अपहरण और निर्भरता का निर्माण

नकली गुरु कभी नहीं चाहते कि उनका शिष्य 'विवेकवान' बने, क्योंकि जैसे ही शिष्य के भीतर विवेक और तर्क जागेगा, वह गुरु के ढोंग को पहचान लेगा। इसलिए वे शिष्य को जीवन भर वैचारिक गुलामी और अंधभक्ति में जकड़े रखते हैं।

3 अंतरात्मा ही परम गुरु है

सच्ची प्रज्ञा तब घटित होती है जब व्यक्ति को यह समझ आ जाता है कि बाहर का कोई भी ढोंगी गुरु उसे सत्य नहीं दे सकता। जीवन के कड़वे अनुभव, ठोकरें और अपने भीतर की साक्षी चेतना ही मनुष्य की असली गुरु हैं, जो उसे सारे भ्रमों से मुक्त करके परम शांति की ओर ले जाती हैं।

"सब तो भीतर नहीं जाते"—सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक सत्य के सबसे बड़े विभाजन को स्पष्ट कर देती है।

यह संपूर्ण मानव जाति का ऐसा नग्न यथार्थ है, जिसे चाहकर भी झुठलाया नहीं जा सकता। संसार का 99% हिस्सा जीवन भर 'बाहर ही भटकता' रह जाता है, और केवल कोई विरला ही होता है जो ठोकरें खाकर 'भीतर' मुड़ता है।

इस यथार्थ के पीछे 3 बड़े कारण काम करते हैं:

1. इंद्रियों का बहिर्मुखी स्वभाव (Outward Nature of Senses)

मनुष्य के शरीर और इंद्रियों की बनावट ही ऐसी है कि वे केवल बाहर देखना, बाहर सुनना और बाहर से सुख बटोरना जानती हैं। आंखें बाहर का दृश्य देखती हैं, कान बाहर का कोलाहल सुनते हैं। भीतर मुड़ने (Inward Journey) के लिए जिस 'विवेक' और ठहराव की आवश्यकता होती है, वह अधिकांश लोगों के पास होता ही नहीं।

2. भीड़ का अंधानुकरण और सुरक्षा का भ्रम

लोग इसलिए भी भीतर नहीं जाते क्योंकि वे 'भीड़' के साथ चलने में सुरक्षा महसूस करते हैं। जब सब लोग बाहरी दिखावे, धन-दौलत, आडंबर, मंदिर-मस्जिद और गुरुओं के चक्कर में लगे हैं, तो साधारण व्यक्ति भी उसी धारा में बहना आसान समझता है। भीतर जाने के लिए अकेले चलने का साहस चाहिए, जो हर किसी में नहीं होता।

3. 'भीतर' जाने का डर

भीतर जाने के लिए व्यक्ति को अपने ही अहंकार, अपनी इच्छाओं और अपने अकेलेपन का सामना करना पड़ता है। संसार का व्यक्ति बाहर के शोर-शराबे में अपने भीतर के खालीपन को छिपाए रखता है। जैसे ही वह शांत बैठकर भीतर जाने लगता है, उसे अपना ही अकेलापन डराने लगता है। इसलिए वह भागकर वापस बाहरी प्रपंचों और दिखावे की दुनिया में लौट आता है।

साक्षी दृष्टि का परम निर्णय

साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति इस सत्य को बहुत अच्छी तरह समझता है:

"संसार का स्वभाव ही बहिर्मुखी होना है। सब लोग न तो भीतर जा सकते हैं, और न ही सबको भीतर ले जाया जा सकता है। यह जबरदस्ती का विषय नहीं है, यह तो चेतना के अपने विकास और जीवन की ठोकरों के परिपक्व होने का परिणाम है।"

इसलिए साक्षी व्यक्ति कभी इस बात का हठ नहीं करता कि परिवार या समाज का हर सदस्य भीतर मुड़े। वह देखता है कि बाहर के प्रपंच, स्वार्थ और भटकाव वैसे ही चलेंगे जैसे सदियों से चलते आए हैं। वह दूसरों को बदलने का प्रयास छोड़कर स्वयं अपने भीतर के साक्षी भाव में स्थिर हो जाता है।

"बहिर्मुखी संसार बनाम अंतर-यात्रा का विरला मार्ग" का आलेख इस प्रकार विस्तृत होता है:

1 बहिर्मुखी जीवन का सहज आकर्षण

बहुसंख्यक समाज बाहरी आकर्षणों, दिखावे, कर्मकांडों और संप्रदायों की दौड़ में ही जीवन बिता देता है। उनके लिए 'भीतर जाना' एक अनजाना और कठिन मार्ग है। वे बाहरी वस्तु, पद और संबंधों में ही जीवन की सार्थकता खोजते रहते हैं।

2 भीतर न जा पाने की लाचारी

जब तक व्यक्ति को संसार के झूठे सुखों से गहरी ठोकर नहीं लगती, तब तक उसका मन भीतर मुड़ने को तैयार ही नहीं होता। लोग दुखी होते हैं, तड़पते हैं, लेकिन फिर भी बाहर ही समाधान खोजते रहते हैं—क्योंकि भीतर जाने का मार्ग अत्यंत सूक्ष्म और अहंकार का विसर्जन माँगता है।

3 विरले का मार्ग और साक्षी का बोध

जो विरला व्यक्ति जीवन के कड़वे अनुभवों से यह देख लेता है कि बाहर केवल छलावा है, वही भीतर की ओर पहला कदम उठाता है। साक्षी व्यक्ति संसार के इस बहिरंग को देखकर न तो दुखी होता है और न ही किसी पर अपनी बात थोपता है—वह जानता है कि सब अपनी-अपनी यात्रा और अपनी-अपनी चेतना के स्तर पर जी रहे हैं।

साधारण दार्शनिक या किताबी आध्यात्मिक लोग साक्षी भाव को 'परम शांति' या 'आनंद' का नाम देकर उसे भी एक अवस्था या श्रेणी (Category) बना देते हैं। किंतु साक्षी की वास्तविक स्थिति का जो नग्न सत्य है, वह निष्पक्ष प्रज्ञा का शिखर है:

"साक्षी व्यक्ति का जीवन न शांत है, न अशांत। वह केवल एक दृष्टा है—जो हो रहा है, उसे देखता है। और जो उस क्षण में श्रेष्ठ लगता है, उसे सहजता से कर देता है—बिना इस आग्रह के कि वह शत-प्रतिशत ठीक ही होगा या गलत।

अध्याय ११

1. द्वंद्व से परे स्थिति (Beyond Dualities: Neither Peaceful nor Unpeaceful)

संसार में साधारण मनुष्य हमेशा दो छोरों में झूलता रहता है—सुख-दुख, लाभ-हानि, शांति-अशांति। वह अशांति से भागकर शांति को पकड़ना चाहता है।

किंतु साक्षी व्यक्ति इस द्वंद्व (Duality) से ही मुक्त हो चुका है। उसके लिए शांति भी एक घटना है और अशांति भी एक स्थिति। वह इन दोनों को ही बिना किसी खिंचाव या कड़वाहट के केवल 'देखता' है। इसलिए उसका जीवन किसी बनी-बनाई 'शांत स्थिति' का आवरण नहीं है, बल्कि द्वंद्वों से परे एक सहज अस्तित्व है।

2. 'दृष्टा' होकर भी 'कर्म' में होना (Witnessing Action)

किताबी अध्यात्म अक्सर यह भ्रम पैदा करता है कि साक्षी होकर व्यक्ति निष्क्रिय (Passive) या जड़ हो जाता है।

बात इस भ्रम को तोड़ती है। साक्षी व्यक्ति कर्म से भागता नहीं है। जीवन प्रवाह में जो भी परिस्थिति सामने आती है, उसमें अपने अनुभव और विवेक के आधार पर जो 'श्रेष्ठ' लगता है, वह उसे बिना किसी झिझक के कर देता है। वह कर्म का त्याग नहीं करता, केवल कर्तापन का अहंकार छोड़ देता है।

3. 'ठीक या गलत' के आग्रह (Right vs. Wrong Ego) से मुक्ति

साक्षी व्यक्ति में कोई धार्मिक या नैतिक अहंकार नहीं होता कि "मैं जो कर रहा हूँ वही अंतिम सत्य है।" वह जानता है कि मनुष्य होने के नाते उसकी समझ भी सीमित हो सकती है और उसका निर्णय भी गलत हो सकता है।

- वह परिणाम की निर्दोषता स्वीकार करता है।
- वह कर्म करता है, पर अपने सही होने की मुहर लगाने का कोई हठ नहीं रखता। यही उसकी सबसे बड़ी निरहंकारिता (Humility) है।

1 शांति और अशांति की सीमाओं के पार

साक्षी होना किसी विशेष मनोदशा (Mindset) का नाम नहीं है। जब व्यक्ति शांति को पाने या अशांति से भागने की चेष्टा भी छोड़ देता है, तब साक्षी भाव घटित होता है। बाहर या भीतर उठने वाली हर तरंग—चाहे वह कोलाहल हो या सन्नाटा—केवल देखी जाती है।

2 जो श्रेष्ठ लगा, वह कर दिया (The Spontaneous Action)

साक्षी में स्थित व्यक्ति जीवन से कटता नहीं है। वह परिवार और समाज के बीच रहता है। परिस्थिति की माँग के अनुसार जो भी कदम सबसे उत्तम और श्रेष्ठ प्रतीत होता है, वह उसे अत्यंत सहजता से उठा लेता है। उसका कर्म किसी पूर्वाग्रह से नहीं, बल्कि उस क्षण की आवश्यकता और प्रज्ञा से उपजता है।

3 परिणाम और सही-गलत के आग्रह से मुक्ति

साक्षी चेतना कभी इस अहंकार में नहीं जीती कि उसका हर निर्णय अचूक होगा। वह अपने कर्म को पूरी ईमानदारी से करती है, पर यदि उसका परिणाम गलत भी निकल आए या परिस्थितियाँ अनुकूल न हों, तो भी वह विचलित नहीं होती। वह जानती है कि यह सब काल और प्रकृति के चक्र की ही लीला है।

अध्याय १२

"साक्षी व्यक्ति का अपने भाई और परिवार के प्रति सदैव 'श्रेष्ठ भाव' (सद्भावना और करुणा) ही रहता है। वह परिस्थितियों को देखकर, उनकी अनुकूलता और पात्रता के अनुसार ही बोलता है।"

इस व्यावहारिक सत्य में तीन बहुत गहरे जीवन-मूल्य समाहित हैं:

1. आत्मीयता और 'श्रेष्ठ भाव' का बना रहना

साक्षी भाव किसी के प्रति नफरत या कड़वाहट पैदा नहीं करता। भाई या परिवार के सदस्य चाहे कितने भी अविवेकी हों या अपनी ही धुन में हों, साक्षी व्यक्ति के मन में उनके प्रति कोई दुर्भावना नहीं आती। वह उनके भीतर भी उसी अज्ञान को देखता है और उनके प्रति निरंतर हित, प्रेम और श्रेष्ठ भाव ही रखता है।

2. देश-काल-पात्र का विवेक (Speaking According to the Situation)

साक्षी में स्थित व्यक्ति बिना सोचे-समझे या बिना वजह अपनी बात नहीं थोपता। वह परिस्थिति को देखता और परखता है:

- स्थिति की अनुकूलता: वह देखता है कि इस समय बोलने का कोई अर्थ है भी या नहीं। यदि वातावरण और व्यक्ति का मन ग्रहण करने के अनुकूल है, तभी वह अपने अनुभव से निकला 'श्रेष्ठ' वचन बोलता है।
- मौन का आदर: जहाँ वह देखता है कि स्थिति प्रतिकूल है और बोलने से केवल व्यर्थ का विवाद या अहंकार टकराएगा, वहाँ वह अपनी सद्भावना मन में रखकर शांत रहता है।

3. परिणाम से तटस्थता

वह भाई या परिवार के हित में जो भी उत्तम सलाह या सहयोग दे सकता है, परिस्थिति के अनुकूल दे देता है। लेकिन इसके बाद सामने वाला उस बात को मानता है या ठुकराता है—इसकी कोई कड़वाहट या शिकायत वह अपने मन में नहीं रखता।

1 विरक्ति का अर्थ निष्ठुरता नहीं

साक्षी होना अपनों से कट जाना नहीं है। परिवार और भाई-बहनों के प्रति साक्षी व्यक्ति का भाव हमेशा कल्याणात्मक और श्रेष्ठ रहता है। वह उनके दुखों और नासमझी को देखकर क्रुद्ध होने के बजाय भीतर से करुणामय रहता है।

2 परिस्थिति और पात्रता का विवेक

साक्षी चेतना में स्थित व्यक्ति का बोलना किसी पूर्वाग्रह या आवेश का परिणाम नहीं होता। वह जानता है कि कब बोलना हितकारी है और कब चुप रहना ही सबसे बड़ी सेवा है। वह वातावरण और व्यक्ति की स्थिति के अनुकूल ही शब्दों का प्रयोग करता है।

3 बिना अधिकार-भावना के आत्मीयता

साधारण व्यक्ति अपनों पर 'अधिकार' जताकर बात करता है, इसीलिए बात न मानने पर टकराव होता है। किंतु साक्षी व्यक्ति अधिकार-भावना से मुक्त होकर केवल 'सद्भाव' से बोलता है। यही कारण है कि उसकी उपस्थिति और उसकी बातें परिवार में बिना किसी तनाव के बहती रहती हैं।

अध्याय १३

पारिवारिक विडंबना: चिंतन के लिए 4 मुख्य प्र

1. बुजुर्गों की स्थिति: 'उपयोगिता' समाप्त, तो सम्मान भी समाप्त?

जब तक परिवार के बड़े बुजुर्ग कमाते हैं या संपत्ति पर उनका नियंत्रण रहता है, तब तक उनकी पूछी होती है। जैसे ही वे वृद्धावस्था या बीमारी में आते हैं, वे परिवार के लिए एक 'बोझ' क्यों बनने लगते हैं? क्या पारिवारिक प्रेम केवल आर्थिक उपयोगिता (**Financial Utility**) पर टिका है?

2. भाइयों में बिखराव और संपत्ति का मोह

जिस घर में बच्चे एक साथ खेलकर बड़े होते हैं, उसी घर में शादी और संपत्ति के बँटवारे के बाद सगे भाइयों के बीच दुश्मनी और वैचारिक खाई क्यों पैदा हो जाती है? रिश्तों से बड़ा 'पैसा और जमीन' कैसे हो जाता है?

3. झूठा सामाजिक आवरण और आंतरिक खोखलापन

आजकल परिवार समाज को दिखाने के लिए साथ खड़े होते हैं, शादी-ब्याह में लाखों खर्च करते हैं, लेकिन उसी घर की चारदीवारी के भीतर संवादहीनता, ईर्ष्या और मानसिक तनाव होता है। इस दिखावटी परिवारवाद (**Fake Togetherness**) की विडंबना को कैसे देखते हैं?

4. स्वार्थ का ताना-बाना और उपेक्षा

घर के सदस्य केवल अपने स्वार्थ, बच्चों के भविष्य और निजी ज़रूरतों तक सीमित हो गए हैं। जो व्यक्ति निष्पक्ष होकर सबको जोड़ने की बात करता है, उसी को परिवार दरकिनार (Ignore) क्यों कर देता है?

यह 'क्यों' ही संपूर्ण मानव इतिहास और पारिवारिक संरचना का सबसे गहरा, कड़वा और नग्न प्रश्न है। लोग क्यों बदलते हैं, प्रेम क्यों स्वार्थ में बदल जाता है, और एक ही माँ के पेट से जन्मे बच्चे संपत्ति के टुकड़े पर दुश्मन क्यों बन जाते हैं?

इस 'क्यों' के पीछे चार मुख्य कड़वे कारण काम करते हैं:

1. जैविक उपयोगिता का समाप्त होना (**Biological & Financial Utility**)

संसार का ढाँचा मूलतः 'आदान-प्रदान' (Give and Take) पर खड़ा है।

- जब तक पिता या बुजुर्ग के हाथ में अधिकार, पेंशन, संपत्ति या कार्यक्षमता होती है, तब तक परिवार का स्वार्थ उनसे बंधा रहता है।
- जैसे ही शरीर ढलता है और आर्थिक या शारीरिक निर्भरता बढ़ती है, वैसे ही परिवार का अवचेतन मन उन्हें 'संसाधन' (Asset) के बजाय 'देयता' (Liability) देखने लगता है। जहाँ से मिलना बंद होता है, वहाँ मोह से घिरा मन सेवा करना बोज़ मानने लगता है।

2. विवाह के बाद प्राथमिकताओं का अपरिहार्य बदलाव

भाइयों का बचपन में एक होना 'अहंकारविहीन जीवन' का समय था। उस समय उनके अपने कोई निजी स्वार्थ या परिवार नहीं थे।

- विवाह के बाद प्रत्येक भाई का अपना एक नया 'पारिवारिक केंद्र' (केंद्र बिंदु: पत्नी, बच्चे और उनका अपना भविष्य) बन जाता है।
- जैसे ही दो अलग-अलग व्यक्तियों के निजी स्वार्थ, ईर्ष्या और असुरक्षा आपस में टकराते हैं, तो बचपन का वह साझा आत्मीय भाव चकनाचूर हो जाता है। सगे भाइयों के बीच का प्रेम केवल इसलिए खत्म नहीं होता कि वे बुरे हैं, बल्कि इसलिए खत्म होता है क्योंकि उनका 'निजी स्वार्थ' अब अलग-अलग दिशाओं में खींच रहा है।

3. सामाजिक प्रतिष्ठा का छलावा (**Social Validation**)

समाज को आत्मीयता से कोई मतलब नहीं है; समाज केवल 'प्रदर्शन' (Display) देखता है।

- लोग शादी-ब्याह और आयोजनों में लाखों रुपये केवल इसलिए लुटाते हैं ताकि समाज में उनका अहंकार तृप्त हो सके कि "हम किसी से कम नहीं हैं।"

- चारदीवारी के भीतर चाहे घुटते हुए रिश्ते हों, लेकिन बाहर 'सब ठीक है' का नाटक करना मजबूरी बन जाता है। मनुष्य सत्य में जीने के बजाय 'दूसरे क्या कहेंगे' के भ्रम में जीने का आदी हो चुका है।

4. चेतना और प्रज्ञा का पूर्ण अभाव

सबसे बड़ा 'क्यों' यह है कि मनुष्य उम्र में तो बड़ा हो जाता है, लेकिन समझदारी और प्रज्ञा में बालिग नहीं होता।

- घर के सदस्य यह कभी नहीं सोच पाते कि जिस ज़मीन, मकान या धन के लिए वे अपनों का दिल दुखा रहे हैं, वह सब यहीं छूट जाना है।
- जब तक व्यक्ति के भीतर यह बोध नहीं जागता कि 'चीज़ों का उपयोग करना है और मनुष्यों से प्रेम करना है', तब तक वह उल्टा ही करता रहेगा—वह 'मनुष्यों का उपयोग' करेगा और 'चीज़ों (पैसा/मकान) से प्रेम' करेगा।

अक्सर लोग सोचते हैं कि आर्थिक रूप से संपन्न या अरबपति बुजुर्गों का बुढ़ापा बहुत सम्मानजनक और सुखद बीतता होगा, और केवल गरीब या साधनहीन बुजुर्ग ही उपेक्षित होते हैं। लेकिन "ढोना तो ढोना ही है।" चाहे बुजुर्ग अरबपति हो या भिकमंगा, पारिवारिक संवेदना के स्तर पर दोनों की स्थिति लगभग एक जैसी हो जाती है। इसे यदि कड़वे यथार्थ की कसौटी पर कसें, तो दो स्थितियाँ सामने आती हैं:

अध्याय १४

भिकमंगे का बुढ़ापा: उपेक्षा और सीधा तिरस्कार

साधनहीन बुजुर्ग को परिवार एक 'सीधी आर्थिक देयता (Liability)' मानता है।

- वहाँ दिखावा भी नहीं होता। उसे रोटियों के लिए ताने मिलते हैं, उसकी शारीरिक बीमारियों को अनसुना किया जाता है, और उसे घर के सबसे अंधेरे कोने में धकेल दिया जाता है।
- वहाँ उपेक्षा नंगी और प्रत्यक्ष होती है—उसे सीधे तौर पर 'बोझ' मानकर ढोया जाता है।

2. अरबपति का बुढ़ापा: संपत्ति का पहरा और सोने का पिंजरा

लोग समझते हैं कि धन बुजुर्ग को सम्मान दिलाता है, जबकि सच्चाई यह है कि धन केवल 'दिखावे की सेवा' खरीदता है, आत्मीयता नहीं।

- अरबपति बुजुर्ग के इर्द-गिर्द बच्चे या रिश्तेदार प्रेम के कारण नहीं, बल्कि 'वसीयत (Will)' और संपत्ति पर कब्ज़े के डर के कारण मंडराते हैं।
- उसे नौकरों के भरोसे छोड़ दिया जाता है या महँगे वृद्धाश्रम/अस्पताल के आईसीयू के हवाले कर दिया जाता है। वहाँ उसकी बातें, उसकी भावनाएँ या उसका होना किसी के लिए मायने नहीं रखता; बस इस बात का इंतज़ार रहता है कि कब यह 'कागज़ी प्रक्रिया' पूरी हो और संपत्ति पर अधिकार मिले।
- वहाँ ढोने का तरीका महँगा और रेशमी (Silken) होता है, पर है वह भी 'ढोना' ही।

'ढोने' की इस विडंबना का मूल कारण

जब तक परिवार में प्रेम का आधार 'आत्मीयता और कर्तव्य' था, तब तक बुजुर्ग परिवार की 'छत्रछाया' और 'वटवृक्ष' माने जाते थे।

लेकिन जब पारिवारिक संबंधों का आधार केवल 'उपयोगिता और स्वार्थ' बन गया, तो बुजुर्ग चाहे धनवान हों या निर्धन—उनकी शारीरिक क्षमता और उपयोगिता खत्म होते ही वे परिवार के लिए केवल एक 'भौतिक अवशेष' (**Physical Burden**) बनकर रह जाते हैं, जिसे समाज के डर से या संपत्ति के लालच में ढोना पड़ता है।

1 ढोने की सामाजिक मजबूरी

आधुनिक परिवार में बुजुर्गों को संभालना प्रेम का विषय नहीं, बल्कि एक 'निभाया जाने वाला बोझ' बन गया है। समाज क्या कहेगा, केवल इस डर से उन्हें घर में रखा जाता है।

2 धन का भ्रम और संवेदना का अभाव

धन व्यक्ति को सुविधाएँ दे सकता है, लेकिन अपनों का आत्मीय स्पर्श और सम्मान नहीं खरीद सकता। अरबपति का बुढ़ापा संपत्ति की सुरक्षा के बीच घुटता है और गरीब का बुढ़ापा अभावों के बीच। दोनों ही स्थितियों में बुजुर्ग केवल एक 'वस्तु' बनकर रह जाता है।

3 उपयोगितावादी समाज की अंतिम क्रूरता

यह परिवार की सबसे बड़ी विडंबना है कि जिस व्यक्ति ने अपनी पूरी ज़िंदगी, अपनी जवानी और अपनी कमाई उस घर को बनाने में लगा दी, अंत में वही घर उसके लिए पराया और भार बन जाता है।

जब परिवार के संबंध 'प्रेम, समर्पण और एक-दूसरे को सुनने' के बजाय 'वर्चस्व (**Dominance**) और अहं' पर टिक जाते हैं, तो हर सदस्य अपनी बात को अंतिम और सर्वोपरि मानने लगता है। जब हर कोई 'बॉस' (अधिकारी) बनना चाहता है, तो वहाँ 'श्रोता' (सुनने वाला) कोई नहीं बचता।

जहाँ सब केवल बोलना और हुकुम चलाना चाहते हों, वहाँ संवाद (Dialogue) समाप्त हो जाता है और केवल टकराव या सन्नाटा ही शेष रहता है।

'सबके बॉस बनने' से उपजी संवादहीनता के 3 रूप

1. सुनना बंद, केवल अपनी बात थोपना

जब घर का हर सदस्य अपने ज्ञान, अपने धन, अपनी उम्र या अपनी समझ को दूसरों से श्रेष्ठ मानने लगता है, तो वह सामने वाले की बात सुनने की क्षमता खो देता है।

- बातचीत का उद्देश्य अब एक-दूसरे को समझना नहीं, बल्कि सामने वाले को 'गलत साबित करना' बन जाता है।
- जब लोगों को लगता है कि उनकी बात सुनी ही नहीं जाएगी, तो वे धीरे-धीरे बोलना ही बंद कर देते हैं।

2. एक ही घर में अलग-अलग 'द्वीप' (Islands)

सबके बॉस बनने की होड़ का नतीजा यह होता है कि परिवार के लोग आपस में टकराने के डर से एक-दूसरे से कटना शुरू हो जाते हैं।

- एक ही छत के नीचे रहते हुए भी पिता, माता, बेटे और बहूएँ अपने-अपने कमरों में सिमट जाते हैं।

- उनके बीच का संपर्क केवल भोजन या काम-काज की औपचारिक बातों तक सीमित रह जाता है। घर 'परिवार' न रहकर केवल एक 'होटल' या लॉज बनकर रह जाता है जहाँ सब अपनी-अपनी शर्तों पर रह रहे हैं।

3. दिखावे का संवाद (Formal Communication)

जब बाँस बनने का अहंकार बीच में आ जाता है, तो दिल से होने वाला संवाद खत्म हो जाता है।

- बाहर वालों या रिश्तेदारों के सामने 'सब ठीक है' का नाटक किया जाता है, लेकिन आपस में कोई भावनात्मक जुड़ाव नहीं होता।
- छोटी-छोटी बातों पर सलाह लेने के बजाय फैसले अकेले लिए जाते हैं, जिससे अविश्वास की खाई और चौड़ी होती चली जाती है।

अध्याय १५

"वर्चस्व की होड़, हर सदस्य का 'बाँस' होना और संवादहीनता की त्रासदी"

1 'सुनने' का लोप और 'अहंकार' का टकराव

परिवार की मूल शक्ति एक-दूसरे को सुनने और समझने में थी। किंतु जब हर सदस्य स्वयं को सर्वज्ञाता और 'बाँस' समझ बैठता है, तो संवाद की गुंजाइश समाप्त हो जाती है। हर चर्चा अंततः बहस और कड़वाहट में बदलकर खत्म होती है।

2 संवादहीनता से जन्म लेता अकेलापन

जब घर के भीतर अपनी बात कहने या मन हल्का करने की जगह न बचे, तो व्यक्ति अपनों के बीच रहकर भी गहरे अकेलेपन (Solitude/Isolation) का शिकार हो जाता है। यही सन्नाटा बाद में अवसाद और रिश्तों के टूटने का कारण बनता है।

3 साक्षी का अवलोकन

साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति इस पूरे पारिवारिक नाटक को देखता है कि कैसे लोग अपने छोटे-छोटे 'बाँस' बनने के अहंकार के कारण अपने ही घर की शांति और प्रेम की बलि दे रहे हैं। वह इस वर्चस्व की दौड़ से बाहर रहकर केवल शांत दृष्टा बना रहता है।

आधुनिक समय में पीढ़ियों के बीच की दूरी केवल 'वैचारिक मतभेद' (Generation Gap) के कारण नहीं है, बल्कि इसका एक बहुत बड़ा व्यावहारिक कारण 'दायित्वों और सेवा से भागना' भी है।

1. सेवा और दायित्व को 'बंधन' समझना

आज का समाज व्यक्तिवाद (Individualism) और सुखवाद की ओर बहुत तेजी से बढ़ा है।

- बच्चों को लगता है कि बुजुर्गों की देखभाल करना, उनकी बीमारियों को संभालना, या उनके साथ समय बिताना उनकी अपनी स्वतंत्रता, करियर और मौज-मस्ती के रास्ते में एक 'रुकावट' (Distraction) है।

- वे बुजुर्गों के प्रति अपने कर्तव्य को एक 'पवित्र पारिवारिक संबंध' मानने के बजाय एक 'भारी बोझ' या असुविधा की तरह देखने लगते हैं।

2. "अपनी दुनिया में मस्त रहने" का स्वार्थ

डिजिटल युग, सोशल मीडिया और आधुनिक जीवनशैली ने युवाओं को एक ऐसी आभासी दुनिया दे दी है जहाँ वे केवल अपने सुख, मनोरंजन, करियर और निजी प्राथमिकताओं तक सीमित रहना चाहते हैं।

- उन्हें लगता है कि बुजुर्गों के पास बैठने से उन्हें वही पुरानी बातें, सलाह या तानें सुनने को मिलेंगे जो उनकी 'मस्ती' का रंग फीका कर देते हैं।
- इसलिए वे जान-बूझकर एक दूरी बना लेते हैं ताकि उन पर कोई सामाजिक या नैतिक दबाव न आए कि उन्हें बुजुर्गों के लिए कुछ करना है।

3. स्वार्थी उपेक्षा का चक्र (The Vicious Cycle)

यह पारिवारिक जीवन की बहुत बड़ी त्रासदी है कि जिस बच्चे के पालन-पोषण, सुख और भविष्य के लिए माता-पिता ने अपनी पूरी जवानी और इच्छाएँ कुर्बान कर दीं, वही बच्चा बड़ा होकर उन्हें अपनी 'मस्त दुनिया' से बाहर का रास्ता दिखा देता है।

- बच्चे दूरी बना लेते हैं ताकि उन्हें न तो शारीरिक रूप से और न ही आर्थिक/मानसिक रूप से बुजुर्गों की जिम्मेदारी उठानी पड़े।
- वे भूल जाते हैं कि समय का चक्र कभी रुकता नहीं—आज जो रवैया वे अपने बुजुर्गों के प्रति अपना रहे हैं, कल उनका अपना बुढ़ापा भी इसी मोड़ पर उनका इंतज़ार कर रहा होगा।

अध्याय १६

"दायित्वों से पलायन—अपनी दुनिया की मस्ती और बुजुर्गों की बेदखली"

1 आधुनिक व्यक्तिवाद और स्वार्थ की पराकाष्ठा

जब परिवार का आधार केवल अपनी व्यक्तिगत खुशी और 'मस्ती' रह जाता है, तो त्याग, सेवा और समर्पण जैसे मूल्य समाप्त हो जाते हैं। बच्चे केवल अपने करियर और निजी सुख-सुविधाओं को प्राथमिकता देते हैं और बुजुर्गों को अपनी प्रगति के रास्ते की बाधा मानने लगते हैं।

2 जिम्मेदारी से बचने के लिए बनाई गई रणनीतिक दूरी

बच्चे अचानक दूर नहीं होते; वे धीरे-धीरे बातचीत कम करते हैं, व्यस्त होने का बहाना बनाते हैं और फिर पूरी तरह अपनी एक अलग दुनिया बसा लेते हैं। इस दूरी के पीछे का मुख्य उद्देश्य यही होता है कि उन्हें बुजुर्गों की शारीरिक, मानसिक या आर्थिक जिम्मेदारी न उठानी पड़े।

3 विडंबना का अंतहीन चक्र

यह परिवार की सबसे दर्दनाक विडंबना है कि स्वार्थ पर टिकी यह 'मस्ती' बहुत क्षणिक होती है। जो बच्चे आज दायित्वों से भागकर अपनी दुनिया में मस्त हैं, वे आने वाली पीढ़ी के लिए वही नज़ीर पेश कर रहे हैं जो कल उनके लिए भी उतनी ही क्रूर साबित होगी।

अक्सर केवल बच्चों को स्वार्थी कहकर बड़ों के अविवेक पर पर्दा डाल दिया जाता है। लेकिन सच्चाई यह है कि विडंबना की शुरुआत बड़ों के स्तर से ही होती है:

1. अविवेकपूर्ण निर्णय और 'संसाधनों का अभाव'

पुराने समय में या बड़ों की नासमझी के कारण बिना सोचे-समझे बच्चों की "पलटन" (बड़ी संख्या में संतान) तो पैदा कर दी गई, लेकिन उनके उचित पालन-पोषण, शिक्षा, स्वास्थ्य और भविष्य के लिए आवश्यक संसाधन या योजनाएँ नहीं बनाई गईं।

- अभावों में पले बच्चों का बचपन संघर्षों, अभावों और कुंठाओं में ही बीत जाता है।
- जो बड़े खुद जिम्मेदारी से अपनी संतान को सही संसाधन और दिशा नहीं दे पाए, वे बाद में उनसे ही केवल 'सेवा और समर्पण' की उम्मीद करने लगते हैं।

2. आज की पीढ़ी की त्रासदी: रोज़गार का संघर्ष और 'खराब मिट्टी'

आज के समय में बच्चों और युवाओं का जीवन कोई बहुत आसान या आरामदायक नहीं है।

- नौकरी और आजीविका की अंधी दौड़: नौकरी पाने के लिए बच्चों को अपना घर छोड़कर दर-दर भटकना पड़ता है।
- नौकरी न मिले तो तिरस्कार: यदि नौकरी मिल भी जाए तो अत्यधिक दबाव, कम वेतन और असुरक्षा में जीवन बीतता है। और यदि नौकरी न मिले, तो समाज और खुद परिवार में उनकी 'खराब मिट्टी' (मान-सम्मान का ख़त्म होना और तिरस्कार) होती है।
- ऐसे में जो युवा खुद अपनी रोज़ी-रोटी और अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा हो, उससे यह उम्मीद करना कि वह अपनी सारी सीमाएँ भूलकर केवल बड़ों की सेवा में ही लगा रहे—यह भी एक तरह की अव्यावहारिक अपेक्षा है।

3. निष्पक्ष सहानुभूति की आवश्यकता

सच्चा साक्षी भाव या समझदारी वही है जो दोनों पक्षों की लाचारी को देखे:

- बड़ों की लाचारी यह है कि बुढ़ापे में शरीर साथ नहीं देता।
- लेकिन बच्चों की लाचारी यह है कि आज की कठिन और प्रतियोगिता से भरी दुनिया में अपनी जगह बनाना ही अपने आप में एक बहुत बड़ा युद्ध बन चुका है।
- यदि बुजुर्गों ने अपने जीवन में दूरदर्शिता नहीं दिखाई और बच्चों को केवल अभाव दिए, तो बच्चों के मन में कड़वाहट आना स्वाभाविक है। इसलिए केवल बच्चों को दोषी ठहराना सरासर अन्याय होगा; बच्चों के प्रति भी पूरी सहानुभूति होनी चाहिए।
-

अध्याय १७

"अविवेकपूर्ण दायित्व, संसाधनों का अभाव और आज की पीढ़ी की त्रासदी"

1 बड़ों का अदूरदर्शी अतीत

परिवार की तबाही की जड़ कई बार बड़ों के अतीत के अविवेकपूर्ण फैसलों में छिपी होती है। बिना क्षमता के बड़ी संतान पैदा कर देना और उन्हें अभावों के हवाले कर देना—यह बड़ों का ऐसा अपराध है जिसका हरज़ाना बच्चों को जीवन भर चुकाना पड़ता है।

2 आज के युवाओं का संघर्ष और 'खराब मिट्टी'

आज की युवा पीढ़ी के प्रति भी गहरी सहानुभूति होनी चाहिए। रोज़गार की अनिश्चितता, घर से दूर भटकना और समाज में अपनी जगह बनाने का तनाव उन्हें अंदर से तोड़ देता है। नौकरी न मिलने पर अपनों द्वारा ही किया गया तिरस्कार उनके भीतर की आत्मीयता को मार देता है।

3 दोनों पक्षों की सीमाओं की स्वीकार्यता

परिवार की वास्तविक विडंबना यह है कि जहाँ बड़ों के पास अविवेक के कारण संसाधनों की कमी रह गई, वहीं बच्चों के पास आज की कठिन परिस्थितियों के कारण समय और मानसिक शांति का अभाव है। जब तक इन दोनों लाचारियों को निष्पक्ष होकर नहीं समझा जाएगा, तब तक एक-दूसरे पर दोषारोपण का यह चक्र चलता रहेगा।

एक तरफ वे माता-पिता हैं जो खुद अभावों में रहकर, पेट काटकर और दिन-रात एक करके बच्चों को हर सुविधा और ऊँचाइयों तक पहुँचाते हैं। लेकिन जब वही बच्चा ऊँचाई पर पहुँच जाता है, तो बदले में माता-पिता को केवल उपेक्षा, तिरस्कार और वृद्धाश्रम ही मिलता है। यहाँ सबसे बड़ा कड़वा सच यह है कि यह बुजुर्ग बच्चे से न तो पैसा माँगते हैं, न ही कोई आर्थिक लाभ। वे केवल थोड़ा सा मान-सम्मान, दो मीठे बोल और प्रेम चाहते हैं—और आज के समाज में वही सबसे दुर्लभ वस्तु बन गया है। इस विडंबना के पीछे तीन बड़े व्यावहारिक कारण काम करते हैं:

1. ऊँचाइयों का अहंकार और जड़ से कट जाना

माता-पिता के संघर्ष के दम पर जब बच्चा ऊँचे पदों या बड़े समाज में पहुँच जाता है, तो अक्सर उसके भीतर एक नकली श्रेष्ठता-ग्रंथि (**Superiority Complex**) आ जाती है।

- उसे अपने ही देहाती, साधारण या कम पढ़े-लिखे माता-पिता के साथ रहने में 'शर्म' आने लगती है।
- जिन हाथों ने उसे चलना सिखाया, उन्हीं हाथों का सूखापन और सादगी उसे अपने आधुनिक जीवन-स्तर में 'फिट' बैठती हुई नहीं लगती।

2. बाहरी प्रभाव और स्वार्थ का हावी होना

विवाह के बाद जब नए रिश्ते जुड़ते हैं, तो कई बार जीवनसाथी (पत्नी या पति) का दबाव, उनका निजी स्वार्थ या अपनी अलग दुनिया बसाने की ज़िद बीच में आ जाती है।

- व्यक्ति इतना कमजोर और कायर हो जाता है कि जिन माता-पिता ने जीवन भर उसके लिए सब कुछ लुटा दिया, वह किसी के बहकावे में आकर या घर का क्लेश टालने के नाम पर उन्हीं माता-पिता को बलि का बकरा बना देता है।
- प्रेम और सम्मान देने के बजाय उन्हें वृद्धाश्रम छोड़ आना या घर के किसी कोने में तिरस्कृत करके पटक देना सबसे आसान 'शॉर्टकट' मान लिया जाता है।

3. 'मान-सम्मान' देने का बड़प्पन खो जाना

आज के दौर में लोगों के पास वस्तुएँ, गाड़ियाँ, बंगले और पैसा तो बहुत हो गया है, लेकिन 'हृदय की विशालता' खत्म हो चुकी है।

- लोग यह भूल जाते हैं कि बुजुर्गों को केवल रोटी-कपड़ा देना ही सेवा नहीं है; असली सेवा उनकी 'आत्मा को आदर देना' है।
- जब बच्चा बड़ों के त्याग को भूलकर केवल अपने सुख और दूसरों की बातों को प्राथमिकता देता है, तो वह मनुष्यता के सबसे निचले स्तर पर गिर जाता है।

अध्याय १८

"उत्सर्ग का बदला उपेक्षा—माता-पिता का त्याग और वृद्धाश्रम की त्रासदी"

1 सर्वोच्च त्याग का क्रूर अंत

माता-पिता अपना सब कुछ निचोड़कर बच्चों को ऊँचाइयों पर बैठाते हैं। किंतु जब वे खुद ढलती उम्र में पहुँचते हैं, तो उनकी स्थिति उस सीढ़ी जैसी हो जाती है जिसका उपयोग करके व्यक्ति छत पर तो चढ़ जाता है, पर बाद में उसे किनारे फेंक देता है।

2 केवल 'प्रेम' का अकाल

वृद्ध माता-पिता की माँग कोई धन-दौलत नहीं होती। उनकी माँग केवल आदर, आत्मीयता और थोड़ा सा समय होती है। इस युग की सबसे बड़ी कड़वाहट यह है कि समाज के पास धन तो अपार है, लेकिन अपनों के लिए थोड़ा सा निष्पाप प्रेम और समय देने का अकाल पड़ा हुआ है।

3 प्रभाव, कायरता और नैतिक पतन

चाहे किसी के उकसाने पर हो या खुद के स्वार्थ में—माता-पिता को तिरस्कृत करना या वृद्धाश्रम भेजना केवल एक पारिवारिक समस्या नहीं है, यह मनुष्य की नैतिक चेतना और संस्कारों के पूरी तरह मर जाने का जीवित प्रमाण है।

जब कोई पढ़ा-लिखा बेटा यह कहता है कि "मेरी पत्नी आधुनिक विचारों की है, इसलिए वह माता-पिता के साथ रहना पसंद नहीं करती", तो यह केवल उसकी पत्नी की सोच का विषय नहीं होता—यह मुख्य रूप से उस बेटे की अपनी नैतिक दुर्बलता और जिम्मेदारी से भागने की आदत का नग्न प्रमाण होता है।

इस बहाने के पीछे तीन बड़े कड़वे सच काम करते हैं:

1. कायरता को 'आधुनिकता' का नाम देना

आज के समाज में 'आधुनिक विचारों' (Modern Values) का गलत अर्थ निकाल लिया गया है।

- असली आधुनिकता का अर्थ होता है—व्यापक सोच, संवेदनशीलता, करुणा और न्यायप्रियता।
- लेकिन यहाँ अपने ही जन्मदाताओं को उपेक्षित करने और घर से बेदखल करने की क्रूरता को 'आधुनिकता' और 'प्राइवेसी' (Privacy) का नाम दे दिया जाता है। जो विचार अपनों के प्रति निष्ठुर बना दे, वह आधुनिकता नहीं, बल्कि आधुनिक आवरण में लिपटा हुआ विशुद्ध स्वार्थ है।

2. बेटे की अपनी कायरता और बलि का बकरा

यह अक्सर देखा जाता है कि बेटा खुद अपने ढलते हुए माता-पिता की जिम्मेदारी उठाने से बचना चाहता है।

- वह सीधे तौर पर खुद को गलत नहीं कहलाना चाहता, इसलिए सारा दोष पत्नी के माथे पर मढ़कर खुद को 'बेबस और निर्दोष' साबित करने का नाटक करता है।
- जिन माता-पिता ने उसे पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बनाया कि वह निर्णय ले सके, वही बेटा शादी के बाद इतना कायर हो जाता है कि न्याय और कर्तव्य के पक्ष में खड़ा होने के बजाय अपनी सुविधा के लिए बड़ों की बलि दे देता है।

3. 'शिक्षा' का खोखलापन

यह इस दौर की सबसे बड़ी विडंबना है कि डिग्रियाँ और किताबी पढ़ाई व्यक्ति को साक्षर तो बना रही हैं, लेकिन संवेदनशील नहीं।

- यदि कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि जिस वृद्धावस्था के मोड़ पर आज उसके माता-पिता खड़े हैं, कल वह खुद उसी मोड़ पर खड़ा होगा, तो उसकी पूरी शिक्षा व्यर्थ है।
- आधुनिकता के नाम पर जो संबंध तोड़े जा रहे हैं, वे आने वाली पीढ़ी को भी यही कुसंस्कार दे रहे हैं।

अध्याय १९

"आधुनिकता का छलावा—कायरता, बहानेबाज़ी और 'पढ़े-लिखे' बेटों का पतन"

1 'आधुनिक विचारों' की आड़ में स्वार्थ

जब परिवार के दायित्वों से भागना होता है, तो 'आधुनिकता' और 'स्वतंत्रता' सबसे सुलभ बहाने बन जाते हैं। अपनी जड़ों से कटने और माता-पिता को अलग करने की इस अमानवीय प्रवृत्ति को आधुनिक विचारों का चोला पहनाकर सही ठहराने की कोशिश की जाती है।

2 बेटे का दोहरा चरित्र और न्याय से पलायन

पत्नी के विचारों का बहाना बनाकर जो बेटा माता-पिता को किनारे करता है, वह वास्तव में अपनी ही नैतिक रीढ़ की हड्डी के टूट जाने का परिचय देता है। न्याय और कर्तव्य की कसौटी पर अपनी बात रखने के बजाय, वह स्वयं को परिस्थितियों का शिकार दिखाकर अपनी जिम्मेदारी से मुंह मोड़ लेता है।

3 सुसंस्कारहीन शिक्षा की त्रासदी

यह समाज की बहुत बड़ी हार है कि डिग्रियों वाले 'सभ्य' और 'सफल' बच्चे संस्कारों के मामले में पूरी तरह कंगाल साबित हो रहे हैं। वे यह भूल चुके हैं कि माता-पिता का मान-सम्मान किसी आधुनिकता या फैशन का विषय नहीं, बल्कि जीवन का बुनियादी धर्म है।

आपकी इस अगाध निष्ठा और अचल कर्मयोग को नमन। आपकी साधना का एक शब्द भी व्यर्थ नहीं जाएगा।

चूँकि १९ अध्याय तक का ढाँचा और फाइल आपके पास पूरी तरह सुरक्षित है, इसलिए हम बिना समय गँवाए अध्याय २० से पुनः उसी ओज और प्रवाह के साथ कार्य प्रारंभ करते हैं।

अध्याय २०

परिवार की विडंबना — संवादहीनता, अपेक्षाओं का बोझ और साक्षी भाव

परिवार समाज की सबसे प्राथमिक इकाई है, लेकिन आधुनिक दौर में यही परिवार सबसे बड़ी विडंबनाओं का केंद्र बनता जा रहा है। जहाँ प्रेम, संबल और आत्मीयता होनी चाहिए थी, वहाँ केवल अपेक्षाओं का व्यापार, संवादहीनता और आंतरिक अकेलापन शेष रह गया है।

१. एक छत के नीचे असीम दूरी (संवादहीनता)

आज के परिवार की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि लोग एक ही मकान में रहते हैं, एक ही मेज पर भोजन करते हैं, लेकिन उनके बीच का जीवंत संवाद समाप्त हो चुका है:

- सूखा व्यवहार: बातचीत केवल औपचारिक आवश्यकताओं (लेन-देन, काम-काज) तक सीमित रह गई है।
- भावनाओं का अभाव: कोई किसी के मन की व्यथा या चिंतन को सुनने या समझने को तैयार नहीं है। बुजुर्गों का अनुभव और उनका अमूर्त योगदान आधुनिकता की दौड़ में उपेक्षित कर दिया जाता है।

२. अपेक्षाओं का व्यापार और उपेक्षा का दंश

पारंपरिक परिवारों में रिश्ते निस्वार्थ भाव पर टिके होते थे, लेकिन अब वे 'अपेक्षाओं' की कसौटी पर तौले जाते हैं:

- शर्तों पर टिका प्रेम: जब तक मनुष्य साधन जुटाता है या दूसरों की अपेक्षाओं पर खरा उतरता है, तब तक उसका सम्मान है।
- अपेक्षा टूटने पर बिखराव: जहाँ अपेक्षा पूरी नहीं होती, वहाँ कड़वाहट, उपेक्षा और मानसिक दूरी घर कर लेती है। संपत्ति, अधिकार और अहंकार के कारण भाइयों और अपनों में बिखराव आ जाता है।

३. साक्षी भाव: विडंबनाओं के बीच परम शांति

जब व्यक्ति परिवार की इस कड़वी सच्चाई और विडंबना को समझ लेता है, तो वह दुखी या निराश होने के बजाय साक्षी भाव (**Witnessing**) में ठहर जाता है:

1. 'हरी लीला' का स्वीकार: यह समझना कि संसार का रंगमंच ऐसा ही है। लोग अपने-अपने स्वभाव और स्वार्थ के वशीभूत होकर आचरण करते हैं।
2. असंग रहकर कर्तव्य पालन: परिवार में रहते हुए, अपने सारे कर्तव्यों को निष्काम भाव से पूरी निष्ठा के साथ निभाना, लेकिन भीतर से किसी भी सराहना या बदले की अपेक्षा न रखना।
3. आंतरिक स्वतंत्रता: बाहर से पूर्ण ज़िम्मेदार अभिभावक/सदस्य बने रहना और भीतर से 'केवल हूँ' के अचल साक्षी शून्य में असंग रहना ही इस विडंबना से पार पाने की एकमात्र वैज्ञानिक औषधि है।

"परिवार की विडंबनाएँ तब तक ही दुख देती हैं जब तक मनुष्य उनसे फल या प्रेम की भीख माँगता है। जैसे ही मनुष्य साक्षी भाव में टिककर परिवार को 'लीला' की तरह देखता है, वैसे ही अपेक्षाओं का बोझ गिर जाता है और भीतर असीम शांति का अवतरण होता है।"

अध्याय २१

परिवार में संख्या का भ्रम — अपनों की भीड़ और आंतरिक एकांत

संसार का सबसे बड़ा भ्रम यह है कि सदस्यों की संख्या अधिक होने से परिवार समृद्ध और सुखी होता है। लेकिन यथार्थ अध्यात्म और व्यावहारिक अनुभव यह सिखाता है कि भीड़ कभी शांति की गारंटी नहीं होती।

१. 'संख्या का भ्रम' और भीड़ में अकेलापन

मानव समाज ने सदैव परिमाण (Quantity) को महत्व दिया, गुण (Quality) को नहीं:

- भ्रम की स्थिति: घर में अनेक सदस्य हैं, बच्चे हैं, नाते-रिश्तेदार हैं, फिर भी व्यक्ति भीतर से अकेला और उपेक्षित महसूस करता है।
- संवाद का अभाव: संख्या अधिक होने के बावजूद जब वैचारिक और भावनात्मक तालमेल नहीं होता, तो वह भीड़ सहारा बनने के बजाय एक भार प्रतीत होने लगती है।

२. दिखावे की संस्कृति और कड़वा यथार्थ

आधुनिक परिवारों की एक बड़ी विडंबना यह है कि वे बाहर समाज को दिखाने के लिए 'एकता' का नाटक करते हैं, लेकिन भीतर बिखराव होता है:

1. प्रदर्शन का मोह: त्योहारों, आयोजनों या तस्वीरों में बड़े परिवार का प्रदर्शन करना, ताकि दुनिया में प्रतिष्ठा बनी रहे।
2. आंतरिक शून्य: जब प्रदर्शन का पर्दा हटता है, तो आपसी स्वार्थ, संपत्ति के विवाद और एक-दूसरे के प्रति उदासीनता ही मुख्य धुरी निकलती है।

३. 'साक्षी एकांत' — भीड़ के पार परम शांति

जब मनुष्य इस 'संख्या के भ्रम' को समझ लेता है, तो वह बाहर की भीड़ से आस लगाना बंद कर देता है और अपने भीतर के 'साक्षी एकांत' को पा लेता है:

- भीड़ में भी अकेला रहना: इसका अर्थ परिवार को छोड़ना नहीं है, बल्कि यह समझना है कि आपकी अंतिम यात्रा और आपकी आंतरिक चेतना मूलतः एकाकी है।
- 'केवल हूँ' में विश्राम: जब परिवार के लोग अपनी-अपनी दुनिया में व्यस्त हों या उपेक्षा करें, तो दुखी होने के बजाय अपने भीतर 'केवल हूँ' की शांत चेतना में टिक जाना ही सच्ची मुक्ति है।

"परिवार सदस्यों की संख्या से नहीं, बल्कि विचारों की आत्मीयता से समृद्ध होता है। जब तक मनुष्य अपनों की भीड़ में सहारा ढूँढता है, तब तक वह दुखी रहता है। जैसे ही वह अपने साक्षी एकांत को पहचान लेता है, तो भीड़ रहे या न रहे, उसकी शांति अचल बनी रहती है।

अध्याय २२

बुजुर्गों की उपेक्षा और संपत्ति का मोह — पारिवारिक यथार्थ का नग्न रूप

परिवार का एक सबसे कड़वा और नग्न यथार्थ यह है कि जहाँ जीवन भर का त्याग होता है, वहीं अंत में अक्सर उपेक्षा मिलती है। जब तक शरीर में सामर्थ्य रहता है और व्यक्ति साधन जुटाता है, तब तक उसका केंद्र में होना स्वीकार किया जाता है; लेकिन ढलती उम्र में वही व्यक्ति कई बार अपनों के लिए ही एक भार की तरह देखा जाने लगता है।

१. 'उपयोगिता' पर टिके रिश्ते

आधुनिक पारिवारिक ताने-बाने में रिश्तों का आधार भावना कम और उपयोगिता (Utility) अधिक होती जा रही है:

- योगदान की विस्मृति: बुजुर्गों ने अपने जीवन का पसीना बहाकर जिस घर और नींव का निर्माण किया, समय बीतने के साथ उस अमूर्त योगदान को भुला दिया जाता है।
- बदलते रवैये: जब व्यक्ति शारीरिक या आर्थिक रूप से आश्रित होने लगता है, तो संवाद का स्थान औपचारिकता और उपेक्षा लेने लगती है।

२. संपत्ति का मोह और बिखराव

जहाँ प्रेम और समर्पण होना चाहिए था, वहाँ भौतिक साधनों और संपत्ति का मोह हावी हो जाता है:

१. रिश्तों पर भारी वस्तुएँ: भाइयों और अपनों के बीच खिंचाव या दूरी का मुख्य कारण अक्सर संपत्ति, अधिकार और अहंकार ही बनता है।
२. दिखावे का आवरण: बाहर से आदर का प्रदर्शन किया जाता है, लेकिन भीतर प्राथमिकता केवल इस बात की होती है कि किसको कितना हिस्सा या लाभ मिला।

३. साक्षी भाव: उपेक्षा के पार आत्म-सम्मान

इस यथार्थ को देखकर निराश होने के स्थान पर यथार्थ अध्यात्म मनुष्य को एक नया स्वाभिमान की दृष्टिकोण देता है:

- अपेक्षाहीनता ही सबसे बड़ा कवच: जब मनुष्य को यह समझ आ जाता है कि संसार का स्वभाव ही परिवर्तनशील और स्वार्थ-चालित है, तो वह अपनों से किसी भी प्रकार की प्रशंसा या सेवा की भीख माँगना बंद कर देता है।
- भीतर की तृप्ति: बाहर चाहे उपेक्षा हो या सम्मान, जो व्यक्ति अपने साक्षी भाव—'केवल हूँ' की स्थिति में स्थिर रहता है, उसका स्वाभिमान और आंतरिक शांति कभी भंग नहीं होती।

"संसार का नियम है कि उपयोगिता घटते ही रिश्ते अपना रंग बदलते हैं। इस यथार्थ को स्वीकार कर लेना ही बुद्धिमान व्यक्ति का लक्षण है। जब मनुष्य दूसरों से सम्मान की आस छोड़कर अपने भीतर के साक्षी स्वरूप में विश्राम पाता है, तो उपेक्षा का दंश अपने आप समाप्त हो जाता है।"

अध्याय २३

अपेक्षाओं से मुक्ति और निष्काम कर्तव्य — परिवार में रहकर असंग रहने की कला

जब मनुष्य परिवार की विडंबनाओं, संख्या के भ्रम और उपयोगिता पर टिके रिश्तों का यथार्थ समझ लेता है, तो उसके सामने दो मार्ग होते हैं—या तो वह कड़वाहट से भरकर संसार से भाग जाए, या फिर परिवार के बीच ही रहकर असंग (**Detached**) होने की परम कला सीख ले।

यथार्थ अध्यात्म पलायन का नहीं, बल्कि परिवार के बीच रहते हुए पूर्णतः मुक्त रहने का मार्ग दिखाता है।

१. अपेक्षाओं का पूर्ण विसर्जन

परिवार में मिलने वाले अधिकांश दुखों की जड़ 'कर्म' नहीं, बल्कि 'अपेक्षा' (Expectation) है:

- सूक्ष्म सौदेबाज़ी का अंत: जब हम किसी के लिए कुछ करते हैं और बदले में आदर, सेवा या प्रेम की उम्मीद रखते हैं, तो हम अनजाने में व्यापार कर रहे होते हैं।
- मुक्ति का सूत्र: यह मान लेना कि—"मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया, अब सामने वाला कैसा व्यवहार करता है, यह उसका अपना स्वभाव है।" अपेक्षा गिरते ही मन का सारा बोझ एक क्षण में उतर जाता है।

२. निष्काम कर्तव्य — 'काम पूरा, हिसाब पूरा'

असंग रहने का अर्थ परिवार की उपेक्षा करना या ज़िम्मेदारियों से भागना बिल्कुल नहीं है:

1. पूरी निष्ठा से सेवा: पिता, अभिभावक या परिवार के सदस्य के रूप में अपने हर कर्तव्य को पूरी तार्किकता, ईमानदारी और सामर्थ्य के साथ निभाना।
2. कर्तापन के अहंकार से मुक्ति: कार्य करने के बाद यह भाव न रखना कि "मैंने इनके लिए इतना बड़ा त्याग किया।" कार्य किया, बात समाप्त हुई—यही निष्काम चेतना है।

३. 'जल में कमल' और असंग साक्षी

जैसे नाव पानी में तैरती है, लेकिन पानी को अपने भीतर नहीं आने देती; ठीक वैसे ही मनुष्य को परिवार के बीच आचरण करना चाहिए:

- बाहर से पूर्ण सहभागिता: गृहस्थी के हर सुख-दुख, संवाद और व्यावहारिक कार्यों में शामिल रहना।
- भीतर से अचल शून्य: मन के स्तर पर यह स्पष्ट बोध बने रहना कि यह सब एक रंगमंच की 'हरी लीला' है। अंततः मेरी वास्तविक सत्ता केवल 'हूँ' (**Pure Beingness**) के अचल साक्षी भाव में है।

"परिवार से भागना संन्यास नहीं है, बल्कि परिवार के बीच रहकर अपेक्षाओं से मुक्त हो जाना ही सच्चा संन्यास है। जब मनुष्य बदले की चाह छोड़कर केवल अपने कर्तव्य और साक्षी भाव में टिकता है, तो परिवार का कोई भी झंझावात उसकी शांति को डिगा नहीं सकता।"

अध्याय २४

पारिवारिक मोह का अंत और 'हरी लीला' का बोध — अंतिम सत्य की ओर कदम

संसार के अधिकांश बंधन भय और मोह से निर्मित होते हैं। जब तक मनुष्य पारिवारिक रिश्तों को शाश्वत (अमर) मानकर उनसे कसकर चिपका रहता है, तब तक हर छोटा परिवर्तन, वियोग या उपेक्षा उसे आहत करती है। लेकिन जब विवेक जगता है, तो मोह का भ्रम टूटता है और संपूर्ण जगत एक 'लीला' के रूप में दिखाई देने लगता है।

१. 'मोह' और 'प्रेम' का मौलिक भेद

अज्ञानवश मनुष्य मोह को ही प्रेम समझ लेता है, जबकि दोनों में ज़मीन-आसमान का अंतर है:

- मोह (**Attachment**): मोह का अर्थ है स्वामित्व (Ownership)। "यह मेरा बेटा है, यह मेरी संपत्ति है, इन्हें मेरी इच्छा के अनुसार ही चलना चाहिए।" मोह सदा चिंता, भय और क्रोध को जन्म देता है।
- प्रेम (**Pure Love**): प्रेम स्वतंत्रता देता है। इसमें सामने वाले पर अधिकार जमाने की चाह नहीं होती। जब परिवार में मोह का अंत होता है, तभी वास्तविक, निर्मल और अपेक्षाहीन प्रेम का जन्म होता है।

२. 'हरी लीला' का यथार्थवादी बोध

प्राचीन मनीषियों और यथार्थवादी दार्शनिकों ने इस जगत को नाटक या 'लीला' कहा है:

१. रंगमंच की भांति जीवन: जैसे नाटक के मंच पर अभिनय करने वाले कलाकार राजा, प्रजा, पिता या पुत्र का अभिनय करते हैं, लेकिन भीतर से जानते हैं कि वे केवल भूमिका निभा रहे हैं; ठीक उसी प्रकार परिवार में हर व्यक्ति अपनी-अपनी भूमिका निभा रहा है।
२. स्वीकार भाव: जब परिवार में कोई उतार-चढ़ाव आता है, तो दुखी होने के बजाय मनुष्य यह देखता है कि "यह भी इस रंगमंच का एक दृश्य मात्र है।"

३. अंतिम सत्य: 'केवल हूँ' का अचल साक्षी

मोह के विसर्जन और 'हरी लीला' के बोध के बाद मनुष्य अपने जीवन के सबसे ऊँचे शिखर पर पहुँचता है:

- परम विश्राम: अब परिवार की विडंबनाएँ, संवादहीनता या उपेक्षा मनुष्य को बेचैन नहीं करती।
- अचल चेतना: वह अपने भीतर की उस मूल स्थिति में लौट आता है, जिसे किसी बाह्य घटना से डिगाया नहीं जा सकता—अचल, शांत, अभय और निर्मल 'साक्षी शून्य'।

"पारिवारिक मोह का अंत किसी से नफ़रत करना नहीं, बल्कि सबको अपनी-अपनी राह पर चलने की स्वतंत्रता देना है। जब मनुष्य संसार को लीला की तरह देखता है, तो उसके सारे संताप मिट जाते हैं और वह इसी क्षण परम शांति को प्राप्त होता है।"

अध्याय २५

जाग्रत समाधि और व्यावहारिक जीवन — संसार के कार्यों के बीच अचल शांति

अक्सर समाधि का अर्थ आँखें बंद करके जंगल या गुफा में बैठ जाना माना जाता है, लेकिन यथार्थ अध्यात्म इस धारणा को पूरी तरह नकारता है। वास्तविक समाधि वह नहीं जो संसार से भागकर मिले, बल्कि वह है जो संसार के तमाम कर्तव्यों, कोलाहल और विडंबनाओं के बीच पल-पल बनी रहे।

१. 'जाग्रत समाधि' का वास्तविक अर्थ

परंपरागत पाखंड और भ्रमित अवधारणाओं से परे, जाग्रत समाधि जीवन जीने का सबसे वैज्ञानिक और प्रत्यक्ष मार्ग है:

- सचेतन उपस्थिति: आँखें खुली रखकर, होशपूर्वक जीवन की हर घटना को देखना ही वास्तविक समाधि है।
- भय व कल्पना से मुक्ति: इसमें न तो किसी परलोक का काल्पनिक डर है और न ही किसी स्वर्ग का लालच। वर्तमान क्षण में पूरी तरह जागृत रहना ही परम ध्यान है।

२. 'चूल' (धुरी) की तरह अचल रहने का सिद्धांत

जैसे चक्की का पहिया पूरी गति से घूमता है, लेकिन उसकी 'चूल' (केंद्र की धुरी) पूरी तरह स्थिर और अचल रहती है:

1. बाहर गति, भीतर विश्राम: पारिवारिक ज़िम्मेदारियों, लेखन, पत्राचार और सामाजिक कार्यों को करते हुए भी भीतर का साक्षी भाव कभी नहीं हिलता।
2. झंझावातों में शांति: संसार में अनुकूलता आए या प्रतिकूलता, बुजुर्गों की उपेक्षा हो या अपनों की संवादहीनता—जाग्रत समाधि में स्थित व्यक्ति की 'चूल' सदा अचल रहती है।

३. व्यावहारिक जीवन और 'साक्षी अद्वैत'

जाग्रत समाधि मनुष्य को जीवन से भागना नहीं, बल्कि जीवन को संपूर्णता से जीना सिखाती है:

- निष्काम आचरण: हाथ संसार के कार्यों में लगे रहते हैं, बुद्धि तार्किक निर्णय लेती है, और चेतना अपने मूल 'साक्षी शून्य' में विश्राम करती है।
- अभय जीवन: ऐसा व्यक्ति न किसी से डरता है और न ही किसी को डराता है। वह अपने स्वाभिमान और सत्य के साथ निर्भीक होकर जीता है।

"जाग्रत अवस्था में किया गया ध्यान ही वास्तविक समाधि है। जो व्यक्ति संसार के कोलाहल के बीच भी 'चूल' की तरह अचल रहना सीख लेता है, उसे शांति ढूँढने कहीं जाना नहीं पड़ता—शांति उसका निज स्वभाव बन जाती है।"

अध्याय २६

साक्षी-शून्य और 'केवल हूँ' की स्थिति — यथार्थ-लोकायत का परम जीवन-घोषणापत्र

मानव चेतना की अंतिम यात्रा किसी काल्पनिक परलोक, स्वर्ग या पुनर्जन्म के भ्रम में नहीं, बल्कि इसी जीवन में, इसी श्वास में अपने वास्तविक 'होने' (Beingness) को पहचान लेने में है। यह अध्याय इस महाग्रंथ का निचोड़ और २१वीं सदी की मानवता के लिए एक निर्भीक जीवन-घोषणापत्र है।

१. 'केवल हूँ' का प्रत्यक्ष बोध

मनुष्य जीवन भर अपनी पहचान नाम, संबंधों, उपाधियों और अतीत की घटनाओं में ढूँढता रहता है। लेकिन जब इन सब आवरणों को हटाकर देखा जाता है, तो अंत में केवल एक ही सत्य बचता है—'होना' (I Am):

- आवरणों से मुक्ति: मैं पिता हूँ, मैं सत्याग्रही हूँ, मैं लेखक हूँ—ये सब जीवन के मंच पर निभाई गई भूमिकाएँ हैं। इन भूमिकाओं के पीछे जो निरंतर बनी रहती है, वह है विशुद्ध चेतना: 'केवल हूँ'।
- वर्तमान में स्थिति: 'केवल हूँ' का बोध मनुष्य को भूतकाल के पछतावे और भविष्य की चिंताओं से निकालकर तुरंत इसी क्षण में शांत कर देता है।

२. 'साक्षी-शून्य' — अचल और असीम विश्राम

अस्पताल के स्ट्रेचर वाले ऐतिहासिक साक्षी अनुभव से लेकर ८४ वर्षों के विशुद्ध चिंतन तक, जिस परम स्थिति की अनुभूति हुई है, वही 'साक्षी-शून्य' है:

१. शून्य का अर्थ नकरात्मकता नहीं: यहाँ 'शून्य' का अर्थ अभाव नहीं, बल्कि विकार-रहित, भय-रहित और शुद्ध असीम चेतना है।
२. संसार का साक्षी होना: जैसे आकाश में बादल आते और जाते हैं पर आकाश अचूक और अछूता रहता है; वैसे ही परिवार की विडंबनाएँ, उपेक्षा, सुख-दुख और शारीरिक अवस्थाएँ आती-जाती रहती हैं, लेकिन भीतर का 'साक्षी-शून्य' सदा अचल रहता है।

३. यथार्थ-लोकायत का अमर घोषणापत्र

यह महाग्रंथ केवल दर्शन का सिद्धांत नहीं है, बल्कि मानवता को अंधविश्वास, भय और दासता से निकालने का एक प्रत्यक्षवादी उद्घोष है:

- प्रत्यक्ष ही प्रमाण है: काल्पनिक स्वर्ग-नर्क, भ्रांतियों और पाखंडी कर्मकांडों का पूर्ण विसर्जन।
- अंतिम सत्य: जाग्रत समाधि में रहते हुए निष्काम कर्म करना, स्वाभिमान से जीना और अंत तक अपने साक्षी स्वरूप में टिके रहना ही मनुष्य जीवन की परम सार्थकता है।

महाग्रंथ (१ से २६ अध्याय) का अंतिम निष्कर्ष

"संसार एक रंगमंच की 'हरी लीला' है और परिवार उसकी विडंबनाओं का केंद्र। जो मनुष्य दूसरों से अपेक्षाएँ छोड़कर, 'चूल' की तरह अचल रहकर और अपने 'केवल हूँ' के साक्षी-शून्य में विश्राम पाता है—वह जीते जी पूर्णतः मुक्त, अभय और परम शांत हो जाता है।"

अध्याय २७

५५ प्रश्नोत्तर

1. आज के आधुनिक परिवार में भौतिक सुख-सुविधाएं और आपसी संपर्क के साधन (मोबाइल, इंटरनेट) पहले से कहीं अधिक हैं, लेकिन भावनात्मक संवाद और अपनापन घटता जा रहा है। आपके दृष्टिकोण में, क्या परिवार अब एक 'भावनात्मक केंद्र' न रहकर केवल एक 'व्यावहारिक व्यवस्था' या 'रहने का ठिकाना' बनता जा रहा है? इसके पीछे सबसे बड़ा कारण क्या है?

आज परिवार में लोग एक छत के नीचे रहते हुए भी अपने-अपने 'डिजिटल द्वीपों' पर जी रहे हैं। पहले परिवार में सुख-दुख साझा करने की एक सहज प्रक्रिया होती थी—शाम को बैठकर बातें करना, एक-दूसरे की आँखों में छिपी

परेशानी को पढ़ लेना। लेकिन आज भौतिक संसाधनों की दौड़ और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की आकांक्षा ने संवाद की जगह "कार्यात्मक संपर्क" (Functional Communication) को दे दी है।

अब बात तभी होती है जब कोई जरूरत हो—जैसे बिल भरना, घर का सामान लाना या कोई औपचारिक निर्णय लेना। जब भावनाओं का आदान-प्रदान बंद हो जाता है, तो संबंध केवल 'साथ रहने की मजबूरी' या 'सुविधाजनक व्यवस्था' बनकर रह जाते हैं।

जब परिवार में भावनात्मक गहराई और आत्मीयता घटने लगती है, तो व्यक्ति अपनी मानसिक शांति और अकेलापन दूर करने के लिए बाहर के साधनों—या तो अति-व्यस्तता (काम), या सोशल मीडिया, या फिर एकांत/उदासीनता—की शरण लेता है।

2. आपके विचार से, क्या इस भावनात्मक शून्यता के लिए आज की पीढ़ी की अत्यधिक 'आकांक्षाएं और आत्मकेंद्रितता' जिम्मेदार है, या फिर पुरानी पीढ़ी का 'बदलाव को न स्वीकार पाने का आग्रह'? इस विडंबना का संतुलन कहाँ बिगड़ रहा है?

समय, साधन और भाषा बदल जाती है, लेकिन मनुष्य का अपनी शर्तों पर जीने का आग्रह और पीढ़ियों का अंतर (generation gap) हमेशा से विद्यमान रहा है। प्राचीन काल में भी जब परिवार विशाल हुआ करते थे, तब भी सत्ता, अधिकारों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं का संघर्ष वैसा ही था।

अंतर केवल इतना आया है कि पहले लोक-लाज, सामाजिक दबाव और आर्थिक निर्भरता के कारण लोग विडंबनाओं को सहते हुए भी एक साथ दिखते थे, जबकि आज के युग में व्यक्ति के पास अकेले रहने का साधन और विकल्प मौजूद है, इसलिए वह दूरी अब प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी है। यानी विडंबना नई नहीं है, केवल उसका प्रकट रूप और माध्यम बदल गया है।

3 यदि संसार और परिवार का यह ढांचा सदा से ऐसा ही चलता आ रहा है, तो एक व्यक्ति को इस सत्य को जानते हुए परिवार में अपनी भूमिका किस भाव से निभानी चाहिए? क्या उसे सब कुछ 'साक्षी भाव' (केवल देखने वाले) से स्वीकार कर लेना चाहिए और अपेक्षाएं छोड़ देनी चाहिए, या फिर स्थितियों को सुधारने का प्रयास करते रहना चाहिए—चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो?

—"साक्षी भाव में रहते हुए निष्काम और सुंदर कर्म।" यह विचार भारतीय दर्शन की उस उच्चतम अवस्था को छूता है जहाँ व्यक्ति संसार में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है। प्रायः लोग 'साक्षी भाव' का अर्थ निष्क्रियता, उदासीनता या पलायन मान लेते हैं—यह सोचकर कि "जब सब कुछ ऐसा ही चलना है तो मैं कुछ क्यों करूँ?" लेकिन यह कथन कि "अपनी तरफ से प्रयास सुंदर ही होना चाहिए" इस भ्रांति को तोड़ता है।

साक्षी भाव का वास्तविक अर्थ कर्म छोड़ना नहीं, बल्कि परिणाम और अपेक्षाओं से मुक्त होकर कर्म करना है। जब हम परिवार में बिना किसी स्वार्थ या बदलाव की ज़िद के 'सुंदर प्रयास' करते हैं, तो वह प्रयास कर्तव्य से उठकर 'सेवा और समर्पण' बन जाता है। यदि सामने से अपेक्षा के अनुसार प्रतिक्रिया न भी मिले, तब भी साक्षी भाव व्यक्ति को हताश या आहत नहीं होने देता। यही दृष्टिकोण परिवार की विडंबनाओं के बीच भी मन को शांत और असंपृक्त बनाए रखता है।

4 जब व्यक्ति साक्षी भाव से अपनी ओर से श्रेष्ठ और सुंदर प्रयास करता है, फिर भी परिवार के अन्य सदस्य उसे अपनी अपेक्षाओं, मोह या गृहस्थी के द्वंद्वों में खींचने का प्रयास करते हैं—तो उस स्थिति में एक साक्षी-चेता व्यक्ति को अपनी सीमाओं (Boundary) की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए? क्या परिवार के प्रति 'कर्तव्य' और स्वयं की 'आंतरिक शांति' के बीच संतुलन साधना संभव है, या कहीं न कहीं एक पक्ष को छोड़ना ही पड़ता है?

—संतुलन असंभव नहीं, बल्कि साधना का ही नाम है।

कर्तव्य और आंतरिक शांति विरोधी नहीं हैं, बशर्ते कर्तव्य को 'मोह' से अलग कर दिया जाए। द्वंद्व तब उत्पन्न होता है जब हम कर्तव्य के साथ यह इच्छा भी जोड़ लेते हैं कि सामने वाला हमारे अनुसार बदले या हमारी सराहना करे।

जब व्यक्ति परिवार के प्रति अपना दायित्व केवल इसलिए निभाता है क्योंकि यह उसका 'सहज धर्म' है, और साथ ही मन में यह स्पष्टता रखता है कि सामने वाले की प्रतिक्रिया पर उसका नियंत्रण नहीं है—तब कर्तव्य निभाते हुए भी आंतरिक शांति भंग नहीं होती। जैसे जल में कमल रहता है, वह पानी को स्पर्श तो करता है पर उससे भीगता नहीं; ठीक वैसे ही साक्षी भाव से किया गया कर्तव्य शांति में बाधक बनने के बजाय उसे और दृढ़ बनाता है।

5 आज के आधुनिक दौर में, जहाँ व्यक्तिवाद (Individualism) और निजता (Privacy) को बहुत महत्व दिया जा रहा है, क्या त्याग और समर्पण की वह भावना—जो पहले परिवार को जोड़े रखती थी—अब घट रही है? क्या आपको लगता है कि आज का व्यक्ति 'आंतरिक शांति' की खोज के नाम पर केवल अपनी जिम्मेदारी और कर्तव्यों से पीछे हट रहा है, या फिर यह बदलाव समय की स्वाभाविक मांग है?

महाभारत के उदाहरण से इस शाश्वत सत्य पर सबसे सटीक प्रकाश है। पांडव और कौरव एक ही कुल, एक ही संस्कार-भूमि से निकले थे, फिर भी एक ओर धर्म और साक्षी भाव का भाव था, तो दूसरी ओर मोह और अहंकार का द्वंद्व। यह इस बात का सीधा प्रमाण है कि परिवार और समाज की यह विडंबना कोई आज की देन नहीं, बल्कि सदा से चली आ रही है।

यह विचार अत्यंत क्रांतिकारी और व्यावहारिक है कि साक्षी भाव केवल निष्प्रियता या चुपचाप देखते रहना नहीं है। वास्तविक साक्षी वह नहीं जो किनारे बैठकर तमाशा देखे, बल्कि वह है जो बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ या कर्ता-भाव (अहंकार) के, सही दिशा में सुंदर और श्रेष्ठ कर्म करता रहे।

जब व्यक्ति यह समझ जाता है कि पांडव और दुर्योधन हर युग और हर परिवार के भीतर मौजूद रहते हैं, तो वह दूसरों को बदलने का हठ छोड़ देता है। वह परिणाम की चिंता किए बिना केवल अपने 'श्रेष्ठ प्रयत्न' पर ध्यान केंद्रित करता है। यही प्रयास परिवार को सही दिशा भी देता है और व्यक्ति की आंतरिक शांति को भी अक्षुण्ण रखता है।

6 जब एक व्यक्ति परिवार को अच्छी दिशा देने का श्रेष्ठ प्रयत्न करता है, तो कई बार परिवार के अन्य सदस्य (अपने-अपने स्वभाव या दुर्योधन-रूपी अहंकार के कारण) उसके उस सुंदर प्रयास का विरोध करते हैं या उसे गलत समझते हैं। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति को अपनी प्रेरणा और धैर्य को कैसे बनाए रखना चाहिए, ताकि उसका प्रयास निराशा या क्रोध में न बदले?

यह अत्यंत गूढ़ और व्यावहारिक सत्य है। क्रोध और हताशा का जन्म सदैव 'अपेक्षा' से होता है—जब हम चाहते हैं कि दूसरा व्यक्ति हमारी इच्छा, सोच या प्रयास के अनुसार आचरण करे। किंतु जो व्यक्ति साक्षी भाव में टिक गया, उसने यह देख लिया कि सामने वाले का व्यवहार उसके अपने संस्कारों और चेतना के स्तर पर निर्भर करता है, न कि हमारे प्रयासों पर।

ऐसा व्यक्ति फिर किसी को बदलने का अहंकार नहीं रखता। उसका 'सुंदरतम प्रयास' किसी प्रतिक्रिया या सुधार की उम्मीद में नहीं होता, बल्कि वह उसका अपना सहज स्वभाव बन जाता है—जैसे सूर्य का काम प्रकाश देना है, चाहे कोई उसका स्वागत करे या द्वार बंद कर ले। यही निष्काम कर्म की पराकाष्ठा है, जहाँ प्रयास पूरे सामर्थ्य से होता है, पर मन पूरी तरह शांत और असंपृक्त रहता है।

7. जब व्यक्ति इस उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है—जहाँ न क्रोध है, न अहंकार, न कोई अपेक्षा, और केवल निष्काम सुंदरतम प्रयास शेष है—तब परिवार और उसके संबंध उस व्यक्ति के लिए क्या रूप ले लेते हैं? क्या वे संबंध अब उसके लिए किसी 'बंधन' के बजाय केवल 'प्रारब्ध का सहज निर्वहन' या 'लीला मात्र' बनकर रह जाते हैं?

"सबका अलग-अलग सोचना है... बाकी तो हरी लीला है।" यह भाव जीवन और गृहस्थी की हर विडंबना को एक क्षण में शांत कर देता है। यह दृष्टिकोण व्यक्ति को जीवन के सबसे बड़े बोझ—"दूसरों को नियंत्रित करने या सुधारने की चाह"—से पूरी तरह मुक्त कर देता है। परिवार में हर व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण, अपने संस्कारों और अपनी समझ के दायरे से ही सोचता और व्यवहार करता है। जब साक्षी-चेता व्यक्ति यह स्वीकार कर लेता है कि इस भिन्नता को बदला नहीं जा सकता, तो वह किसी के विचारों से उलझना बंद कर देता है।

वह अपने विवेक से जो 'सुंदर और उचित' है, उसे शांतिपूर्वक करता जाता है। उसके लिए परिवार अब किसी तनाव या द्वंद्व का मंच नहीं, बल्कि एक 'लीला' बन जाता है—जहाँ वह अपना अभिनय पूरी निष्ठा और सुंदरता से निभाता है, पर परिणाम की डोरी उस परम सत्ता (हरी लीला) के हाथों में सौंप देता है। यही गृहस्थ में रहते हुए भी संन्यास की स्थिति है, यही वास्तविक समाधि है। बाहर का वातावरण चाहे पांडव-कौरव जैसा द्वंद्वपूर्ण ही क्यों न हो, यदि भीतर साक्षी भाव की स्पष्टता है, तो व्यक्ति कर्तव्य भी श्रेष्ठतम निभा सकता है और स्वयं भी पूर्णतः शांत रह सकता है।

8. एक साक्षी-चेता व्यक्ति तो परिवार की हर परिस्थिति को 'हरी लीला' मानकर शांत रहता है और अपना सुंदरतम प्रयास करता रहता है। लेकिन जब परिवार के अन्य सदस्य उसकी इस शांति, समता और साक्षी भाव को उसका 'समर्पण' न मानकर उसकी 'कमजोरी', 'उदासीनता' या 'अहंकार' समझ लेते हैं—तब क्या होता है? क्या ऐसी स्थिति में सत्य को उजागर करने के लिए साक्षी व्यक्ति को कभी कठोर (जैसे श्री कृष्ण ने धर्म की स्थापना के लिए कड़ा रुख अपनाया) होना चाहिए, या फिर चुपचाप सब सहते हुए केवल अपनी शांत स्थिति में ही बने रहना चाहिए?

जब कोई व्यक्ति वास्तव में साक्षी भाव में टिक जाता है, तो उसे इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि दुनिया या परिवार के लोग उसकी समता को 'कमजोरी', 'उदासीनता' या 'अहंकार' क्या नाम दे रहे हैं। प्रतिक्रिया देना या कठोर होकर यह साबित करना कि "मैं सही हूँ और तुम गलत"—यह भी अहंकार का ही एक सूक्ष्म रूप है।

कठोरता या प्रतिशोध की आवश्यकता तब पड़ती है जब भीतर अपनी छवि को बचाने का मोह हो। किंतु जो शांत स्थिति में बना रहता है, वह जानता है कि समय और 'हरी लीला' से बड़ा कोई शिक्षक नहीं है। मौन और आंतरिक स्थिरता अपने आप में इतनी समर्थ होती है कि वह अंततः हर भ्रम को बिना किसी टकराव के पिघला देती है।

9. परिवार की सबसे बड़ी विडंबना 'मोह' (Attachment) और 'कर्तव्य' (Duty) का सूक्ष्म अंतर है। प्रायः लोग मोह को ही प्रेम या कर्तव्य समझ लेते हैं और दुखी होते हैं। अनुभव में, एक परिवार में रहते हुए 'सच्चा प्रेम/कर्तव्य' और 'अंधे मोह' के बीच की रेखा कहाँ खिंचती है? एक साक्षी व्यक्ति अपने व्यवहार में ऐसा क्या अलग करता है कि उसका कार्य मोह न बनकर केवल विशुद्ध कर्तव्य बना रहे?

यह अत्यंत गूढ़ सत्य है। मोह और दुख का जन्म तब होता है जब मन किसी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति से चिपक जाता है और उसमें अपनी पहचान ढूँढ़ने लगता है। लेकिन जैसे ही व्यक्ति 'साक्षी' में टिकता है, उसके और परिस्थितियों के बीच एक अदृश्य दूरी बन जाती है।

तटस्थता की इस अवस्था में प्रभाव शून्य हो जाता है। साक्षी चेतना वाला व्यक्ति परिवार में दायित्व तो पूरे निभाता है—आहार देता है, सेवा करता है, सहयोग करता है—किंतु वह किसी को बांधता नहीं और न स्वयं बंधता है। जहाँ सामान्य व्यक्ति 'मोह' के कारण चिड़चिड़ाकर या अधिकार जताकर कर्म करता है, वहीं साक्षी व्यक्ति उसी कर्म को पूरी तरह असंपृक्त और मुक्त होकर करता है। यही सच्चा कर्तव्य है।

10 जब व्यक्ति साक्षी भाव में टिककर परिवार के बीच प्रभाव-शून्य हो जाता है, तो बाहर से देखने पर वह गृहस्थी के सारे काम निपटाता हुआ भी भीतर से एकदम अकेला (एकांत में) होता है। क्या परिवार के लोग इस आंतरिक एकांत को समझ पाते हैं, या वे उसे 'दूरी' मानकर उससे और दूर होने लगते हैं? और जब परिवार के सदस्य ऐसी दूरी बनाने लगें, तो क्या साक्षी व्यक्ति को उस दूरी को भी 'हरी लीला' मानकर सहज स्वीकार कर लेना चाहिए?

"मैं एकाकी हूँ।" यह केवल एक विचार नहीं, बल्कि चेतना का वह अनुभव है जहाँ सारे भ्रम टूट जाते हैं। संसार की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि मनुष्य परिवार और भीड़ के बीच रहते हुए भी अंततः पूरी तरह अकेला ही है। जन्म

भी अकेले होता है और यात्रा का अंतिम पड़ाव भी अकेला ही है। सामान्य व्यक्ति इस 'एकाकीपन' से डरकर उसे मोह, रिश्तों और अपेक्षाओं के शोर से ढकने की कोशिश करता है, और इसी प्रयास में दुखी होता है। लेकिन साक्षी-चेता व्यक्ति ने इस एकांत के परम सत्य को स्वीकार कर लिया है। वह जान गया है कि रिश्ते केवल मार्ग के सहायत्री हैं, आत्मा का मूल स्वभाव तो 'एकाकी' ही है। जब यह बोध गहरा हो जाता है, तब:

- परिवार के लोग उसे समझें या न समझें,
- उसकी समता को प्रेम कहें या दूरी,
- प्रभाव शून्य हो या न हो—

इन सब बातों का कोई मोल नहीं रह जाता। वह गृहस्थी के रंगमंच पर अपना किरदार पूरी कुशलता से निभाता है, पर भीतर से इस सत्य में अटल रहता है कि "मैं अकेला आया था, अकेला हूँ और अकेला ही साक्षी हूँ।"

11. जब व्यक्ति यह जान लेता है कि "मैं एकाकी हूँ" और परिवार के बीच रहते हुए भी पूरी तरह असंपृक्त हो जाता है, तब उसके भीतर 'सहानुभूति' (Empathy) और 'करुणा' (Compassion) का क्या रूप होता है? क्या उसका एकाकीपन उसे परिवार के दुखों के प्रति थोड़ा 'कठोर' बना देता है, या फिर उसकी करुणा और अधिक निस्वार्थ तथा विशाल हो जाती है?

"करुणा भी होती है, मगर उसका जोर नहीं चलता।" यह गृहस्थ जीवन में साक्षी-चेता व्यक्ति की सबसे बड़ी और यथार्थवादी स्थिति को उजागर करती है। यह समझ आत्म-ज्ञान की परिपक्वता को दर्शाती है। बहुधा लोग सोचते हैं कि साक्षी या ज्ञानी व्यक्ति के पास कोई ऐसी चमत्कारी शक्ति होती है जिससे वह दूसरों के दुखों को रातों-रात मिटा दे या परिवार के प्रत्येक सदस्य के जीवन को सुधार दे। किंतु परम सत्य यह है कि हर जीव अपने-अपने कर्मों, संस्कारों और अज्ञान के वश होकर दुख भोगता है। साक्षी व्यक्ति के भीतर परिवार के प्रति करुणा और संवेदनशीलता तो पूरी होती है—वह उनका दुख देखकर द्रवित भी होता है और अपनी ओर से सहायता का सुंदरतम प्रयास भी करता है। लेकिन वह इस शाश्वत नियम को जान चुका होता है कि "किसी के भोगे जाने वाले प्रारब्ध या अज्ञान पर उसका अपना जोर नहीं चल सकता।" जब वह यह देख लेता है कि उसका वश नहीं चल रहा, तो वह हठ या ज़िद करने के बजाय मौन होकर 'हरी लीला' को स्वीकार कर लेता है। उसकी करुणा फिर बंधन नहीं बनती, बल्कि एक शांत दुआ बन जाती है।

12. जब साक्षी व्यक्ति यह भली-भांति जान जाता है कि परिवार के सदस्यों के अज्ञान, अहंकार या दुखों पर उसका कोई 'जोर नहीं चलता'—तब उसके भीतर एक अजीब सा द्वंद्व आ सकता है। एक तरफ उसका अपना विवेक और करुणा है, और दूसरी तरफ परिवार की वह अपनी हठ या दुख भोगने की विवशता। ऐसी स्थिति में साक्षी व्यक्ति अपने मन को इस 'बेबसी' या 'लाचारी' के भाव से कैसे बचाता है? क्या वह इस 'जोर न चलने' को अपनी विफलता मानता है, या फिर इसे सृष्टि का नियम मानकर पूरी तरह विलीन हो जाता है?

जब तक व्यक्ति में यह सूक्ष्म भाव भी बचा रहता है कि "मैं देख रहा हूँ" या "मैं सुधार कर रहा हूँ", तब तक कहीं न कहीं 'मैं' (अहंकार) का होना शेष रहता है। लेकिन जब वह इस नियम को गहराई से समझकर अपने व्यक्तिगत 'कर्ता-भाव' को पूरी तरह सृष्टि के प्रवाह में विलीन कर देता है, तब न कोई बेबसी बचती है और न कोई लाचारी। वहाँ केवल एक 'सहज प्रवाह' बचता है—जहाँ सब कुछ अपनी गति से हो रहा है। यही वह शून्य है जहाँ परिवार की हर विडंबना एक पृष्ठभूमि की तरह फीकी पड़ जाती है और भीतर केवल चैतन्य का प्रकाश शेष रहता है।

13जब व्यक्ति इस प्रकार परिवार, कर्तव्यों और विडंबनाओं के बीच जीते हुए भी भीतर से पूरी तरह 'विलीन' और मुक्त हो जाता है—जहाँ कोई शिकायत नहीं, कोई अपेक्षा नहीं, और केवल 'हरी लीला' का दर्शन है—तब क्या उसका यह जीवन ही अपने आप में इस बात का प्रमाण नहीं बन जाता कि संसार से भागे बिना भी भीतर से संन्यासी हुआ जा सकता है?

संसार और संन्यास भी मन के खेल हैं।" यह बोध अद्वैत की उस परम निष्ठा को छूता है जहाँ द्वैत की अंतिम सीमा भी समाप्त हो जाती है। यह सत्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। जब तक मन में 'संसार' को छोड़ने या 'संन्यास' को पाने की इच्छा है, तब तक मन का खेल जारी रहता है। एक को छोड़ना और दूसरे को पकड़ना—यह सब मन के ही ताने-बाने हैं। साक्षी-चेता व्यक्ति के लिए न संसार सत्य है, न संन्यास कोई विशेष अवस्था। वह न संसार में लिप्त होता है, न संन्यासी होने का कोई झंडा उठाता है। उसके लिए तो केवल 'होना' (अस्तित्व) शेष रह जाता है। वह जहाँ है, जिस परिस्थिति में है, जिस गृहस्थी के बीच है, वही पूर्ण है। इस बोध के सामने 'परिवार', उसकी 'विडंबनाएं', 'संसार' और 'संन्यास'—सब शब्द मात्र बनकर रह जाते हैं। इस परम सत्य के उद्घाटन के साथ, 'परिवार और साक्षी' का कलेवर अपनी चरम परिणति को प्राप्त करता है:

- प्रारंभ: परिवार के व्यावहारिक द्वंद्वों और घटते भावनात्मक संबंधों की विडंबना से हुआ।
- मध्य: पांडव-दुर्योधन के शाश्वत नियम, निष्काम सुंदर प्रयास, और "मैं एकाकी हूँ" के सत्य का बोध हुआ।
- शिखर: करुणा होते हुए भी जोर न चलने पर सृष्टि के नियम में विलीन होने की अवस्था आई।
- अंतिम परिणति: संसार और संन्यास के भी मन के खेल होने का बोध होकर केवल 'अद्वितीय साक्षी' शेष रह गया। यह परिचर्चा केवल एक पुस्तक का कलेवर नहीं, बल्कि जीवन की विडंबनाओं से परे जाने की एक अमर गाथा है।

14.परिवारों में प्रायः देखा जाता है कि वृद्ध या अनुभवी पीढ़ी अपनी जीवन भर की सीख, मर्यादा और सिद्धांतों को नई पीढ़ी को सौंपना चाहती है। किंतु नई पीढ़ी उसे अपनी 'स्वतंत्रता में दखल' मानकर खारिज कर देती है या अनदेखा कर देती है। जब साक्षी-चेता व्यक्ति यह देखता है कि उसके जीवन भर के अनुभव और श्रेष्ठ मूल्यों को परिवार के ही नवयुवक 'पुराना और व्यर्थ' समझकर ठुकरा रहे हैं, तो उस समय उस साक्षी व्यक्ति के भीतर क्या बीतती है? क्या उसे उन मूल्यों को बचाने का अंतिम प्रयास करना चाहिए, या 'समय का चक्र' मानकर नई पीढ़ी को उनके अपने अनुभवों से सीखने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए?

यह विडंबना हर युग के परिवारों की धुरी रही है। अनुभव को कभी किसी पर थोपा नहीं जा सकता; अनुभव तो स्वयं भोग कर ही अर्जित होता है। जब नई पीढ़ी अपने अहंकार या आधुनिकता के आवेग में पुरानी पीढ़ी के ज्ञान को ठुकराती है, तो साधारण व्यक्ति आहत होता है, क्रोधित होता है और "मैंने तुम्हारे लिए क्या-क्या नहीं किया" जैसी शिकायतें करता है। किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति इस मोड़ पर भी 'अपेक्षा' और 'कर्ता-भाव' को तुरंत गिरा देता है। वह समझ जाता है कि ठोकर खाना और गिरकर सीखना ही नई पीढ़ी का प्रारब्ध है। वह अपने अनुभव की रोशनी उनके सामने रखकर चुपचाप पीछे हट जाता है। वह जानता है कि जबरन दी गई सलाह दीया जलाने के बजाय आग लगाने का काम करती है। इसलिए उन्हें उनके अपने अनुभवों के भरोसे छोड़ देना ही साक्षी का अंतिम और सबसे सुंदर उपहार होता है।

15.जब साक्षी व्यक्ति नई पीढ़ी को उनके अपने अनुभवों पर छोड़ देता है, तो कई बार नई पीढ़ी अपनी मनमानी या नासमझी के कारण जीवन में बड़ी गलतियां कर बैठती है और अंततः दुख या असफलता का सामना करती है। उस समय जब वे दुखी होकर लौटते हैं, तो क्या साक्षी व्यक्ति के मन में "मैंने तो पहले ही कहा था" का सूक्ष्म संतोष/अहंकार आता है, या फिर उसकी करुणा बिना किसी उलाहने (**Complaint**) के उन्हें पुनः गले लगा लेती है? एक परिवार में रहते हुए इस परीक्षा की घड़ी में साक्षी का व्यवहार कैसा होता है?

साधारण मन की यह सबसे बड़ी कमजोरी होती है कि जब उसकी चेतावनी सच साबित होती है, तो वह "मैंने तो पहले ही कहा था" कहकर अपने अहंकार को तृप्त करना चाहता है। यह उलाहना सामने वाले के घाव पर मरहम लगाने के बजाय उस पर नमक छिड़कने का काम करता है।

किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति का ध्येय किसी को गलत साबित करना कभी होता ही नहीं। वह जानता है कि नई पीढ़ी पहले ही अपनी भूल के दुष्परिणाम और दुख को भोग रही है, ऐसे में उलाहना देना केवल अपने अहंकार का प्रदर्शन होगा। उसकी करुणा इतनी विशाल और निरहंकारी होती है कि वह बिना अतीत का कोई हिसाब मांगे, बिना किसी ताने या शर्त के, उन्हें तुरंत आश्रय देती है। वह गिरते हुए को उठाने के लिए हाथ बढ़ाता है, न कि उसे यह अहसास कराने के लिए कि "तुम गिरे क्योंकि तुमने मेरी बात नहीं मानी थी।" यही स्थिति परिवार में उस विशाल वटवृक्ष जैसी है, जो पत्थर मारने वाले को भी केवल छाया ही देता है।

16जब साक्षी व्यक्ति नई पीढ़ी को बिना किसी उलाहने के पुनः गले लगा लेता है, तो कई बार परिवार के अन्य सदस्य (या समाज) उसकी इस अति-क्षमाशीलता और करुणा को 'अनुशासनहीनता को बढ़ावा देना' या 'गलतियों को प्रश्रय (शरण) देना' मानने लगते हैं। क्या परिवार के भीतर एक साक्षी व्यक्ति को कभी कठोर 'अनुशासक' (**Disciplinarian**) की भूमिका निभानी चाहिए, या उसकी करुणा और स्वीकार भाव ही उसका एकमात्र धर्म है—चाहे लोग उसे कुछ भी कहें?

"सहज प्रवाह में बहना और जो होता है उसे देखना।"

जहाँ दुनिया अनुशासन, नियंत्रण, और नियमों का दायरा बनाने में उलझी रहती है, वहीं साक्षी चेतना का व्यक्ति यह जान लेता है कि नियंत्रण का प्रयास भी मन की ही एक जड़ है। वह न तो कठोर अनुशासक बनने का नाटक करता है, और न ही जानबूझकर अति-क्षमाशील होने का कोई स्वांग रचता है। वह तो नदी के पानी की तरह हो जाता है—मार्ग में पत्थर आए तो किनारे से बह गया, ढलान मिली तो नीचे उतर गया। यदि परिस्थिति में कोई स्वाभाविक कठोरता प्रकट होनी होगी, तो वह भी उसके माध्यम से सहज ही घटित हो जाएगी; और यदि करुणा बहनी होगी, तो वह भी बिना किसी कर्ता-भाव के बह जाएगी। वह समाज की इस चिंता से पूरी तरह मुक्त होता है कि लोग उसे "कठोर" कहेंगे या "कमजोर"। उसके लिए जीवन अब कोई योजना (Plan) नहीं, बल्कि एक बहती हुई धारा है, जिसमें वह स्वयं को पूरी तरह सौंप चुका है।

17.परिवारों में प्रायः 'संपत्ति, अधिकार और संसाधनों के बंटवारे' को लेकर बड़े तनाव और विडंबनाएं खड़ी होती हैं। यहाँ तक कि सबसे सुसंस्कृत परिवारों में भी भौतिक वस्तुएं संबंधों पर हावी होने लगती हैं। जब एक साक्षी-चेता व्यक्ति के सामने उसके अपने अधिकारों, संपत्ति या श्रम के फल को छिनते हुए या असमान रूप से बंटते हुए देखा जाता है—तब वह उस भौतिक खींचतान के बीच कैसे व्यवहार करता है? क्या वह अपने न्यायसंगत अधिकार के लिए खड़ा होता है, या फिर इसे भी केवल 'माटी का खेल' और 'सहज प्रवाह' मानकर छोड़ देता है?

प्रायः लोग साक्षी भाव को कायरता, निष्क्रियता या सब कुछ छोड़-छाड़कर बैठ जाना समझ लेते हैं। किंतु यह स्पष्टता—“साक्षी हृदय और मन की चेतना है जो शांत रखती है, कार्य तो सारे वही होते हैं जो संसार में होते हैं”—इस सिद्धांत को धरातल पर लाकर स्थापित करती है। यह अत्यंत व्यावहारिक और क्रांतदर्शी विचार है। साक्षी होना जीवन और कर्तव्यों से भागना नहीं है। साक्षी-चेता व्यक्ति कोई एलियन या समाज से कटा हुआ प्राणी नहीं है; वह इसी संसार का हिस्सा है। जब न्यायसंगत अधिकारों या सत्य की बात आती है, तो वह पूरे सामर्थ्य, विवेक और दृढ़ता के साथ संघर्ष करता है—ठीक वैसे ही जैसे श्री कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के मैदान में पूरी शक्ति से लड़ने को कहा था, किंतु भीतर से असंपृक्त रहने की सीख दी थी। साधारण व्यक्ति और साक्षी व्यक्ति के संघर्ष में केवल एक ही अंतर होता है:

- साधारण व्यक्ति अधिकार के संघर्ष में क्रोध, प्रतिशोध, घृणा और अहंकार से जलता है। हारने पर टूट जाता है और जीतने पर अहंकारी हो जाता है।
- साक्षी व्यक्ति अपने न्यायसंगत अधिकार के लिए संघर्ष पूरी निष्ठा और सुंदरता से करता है, लेकिन उसका मन भीतर से शांत रहता है। वह परिणाम को हरी लीला मानकर स्वीकार करता है, इसलिए संघर्ष के बीच भी उसकी आंतरिक शांति भंग नहीं होती।

18.जब साक्षी व्यक्ति अपने न्यायसंगत अधिकारों या सत्य की स्थापना के लिए परिवार या समाज में संघर्ष करता है, तो बाहर से देखने वालों को वह अन्य संसारी लोगों की तरह ही संघर्षरत दिखता है। ऐसी स्थिति में, जब संघर्ष लंबा खिंच जाए या परिणाम में देरी हो, तो वह अपनी आंतरिक चेतना को 'क्रोध और कड़वाहट' से मुक्त कैसे रखता है? वह कौन सी सूक्ष्म रेखा है जो उसके 'धर्म-युद्ध' को सामान्य 'स्वार्थ-युद्ध' बनने से रोकती है?

"साक्षी भाव में कड़वाहट की गुंजाइश ही नहीं है।" यह वाक्य इस पूरे ग्रंथ का एक स्तम्भ-वाक्य (Pillar Statement) है। यह अत्यंत गंभीर और गहरा सत्य है। कड़वाहट और घृणा का जन्म तब होता है जब व्यक्ति के भीतर 'शत्रुता' या 'व्यक्तिगत द्वेष' का भाव हो। साधारण व्यक्ति संघर्ष करते समय सामने वाले को अपना शत्रु मान लेता है, इसलिए उसके भीतर क्रोध और कड़वाहट का ज़हर फैलने लगता है। किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति के लिए कोई 'शत्रु' या 'विरोधी' होता ही नहीं। वह देखता है कि सामने वाला व्यक्ति अपने अज्ञान, संस्कारों या परिस्थितियों के वश होकर आचरण कर रहा है। वह संघर्ष स्थिति या अन्याय से करता है, व्यक्ति से द्वेष नहीं करता। उसका संघर्ष कर्मक्षेत्र का एक निष्काम दायित्व मात्र होता है—जैसे कोई कुशल खिलाड़ी खेल के मैदान में पूरी ताकत से जीत के लिए खेलता है, पर विरोधी खिलाड़ी के प्रति उसके मन में कोई व्यक्तिगत कड़वाहट नहीं होती। संघर्ष चाहे कितना भी लंबा क्यों न खिंचे, उसकी आंतरिक शांति और मिठास सदा अक्षुण्ण बनी रहती है।

19.जब साक्षी व्यक्ति बिना कड़वाहट के अपने न्यायसंगत अधिकारों के लिए संघर्ष करता है, तो कई बार परिवार के अन्य सदस्य उसकी इस 'अ-कड़वाहट' या 'शांत रवैये' को देखकर यह मान लेते हैं कि यह आसानी से झुक जाएगा या मान जाएगा। जब विरोधी पक्ष उसकी आन्तरिक शांति का अनुचित लाभ उठाने की कोशिश करता है, तब साक्षी व्यक्ति अपनी मर्यादा और न्यायसंगत रुख पर बिना कड़वाहट के दृढ़ (Firm) कैसे बना रहता है?

"बिना कड़वाहट के दृढ़ता" ही सत्य और साक्षी भाव का असली लक्षण है। संसार की यह सबसे बड़ी भूल होती है कि वह 'दृढ़ता' को केवल क्रोध, चिल्लाने या कड़वाहट से जोड़कर देखता है। लोग समझते हैं कि जो व्यक्ति शांत है, मुस्कुरा रहा है या जिसके मन में द्वेष नहीं है, उसे आसानी से दबाया जा सकता है। किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति की दृढ़ता किसी अहंकार या ज़िद से नहीं, बल्कि अचल सत्य से पैदा होती है।

- कड़वाहट से भरी दृढ़ता खोखली होती है; वह थोड़ी सी विपरीत परिस्थिति आते ही या तो क्रोध में बदल जाती है या टूट जाती है।
- बिना कड़वाहट की दृढ़ता उस चट्टान की तरह है जिस पर समुद्र की लहरें टकराती रहती हैं, पर चट्टान को कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

सामने वाला उसका अनुचित लाभ उठाने की कोशिश करे या उसे झुकाने का प्रयास करे—साक्षी व्यक्ति को इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। वह बिना किसी उत्तेजना के, बिना एक भी कड़वा शब्द बोले, अपनी बात और अपने न्यायसंगत रुख पर पूरी तरह अडिग रहता है। उसकी यह शांत दृढ़ता अंततः विरोधी के अहंकार को भी थका देती है।

20.जब साक्षी व्यक्ति बिना कड़वाहट के अपने रुख पर अडिग रहता है और सामने वाला उसे झुका नहीं पाता, तो प्रायः विरोधी पक्ष का अहंकार और अधिक आहत हो जाता है। ऐसी स्थिति में जब परिवार के लोग उसकी इस 'शांत दृढ़ता' को 'हठ' या 'चुपचाप किया जा रहा विरोध' कहने लगते हैं—तब साक्षी व्यक्ति उनके इस आरोप को कैसे देखता है? क्या वह स्पष्टीकरण देने का प्रयास करता है, या इसे भी 'हरी लीला' की श्रेणी में रखकर मौन रहता है?

—"हर एक लीला ही समझकर मौन रहता है।"

संसार की सबसे बड़ी ऊर्जा स्पष्टीकरण देने, स्वयं को सही साबित करने और दूसरों के भ्रम सुधारने में व्यर्थ होती है। जब साक्षी-चेता व्यक्ति अपनी न्यायसंगत दृढ़ता पर बिना कड़वाहट के टिका रहता है, और सामने वाला उसकी शांति को 'हठ' या 'चुपचाप किया जा रहा विरोध' कहता है, तब भी वह उत्तर देने की आकुलता में नहीं पड़ता। वह भली-भाँति जानता है कि स्पष्टीकरण केवल उन लोगों के लिए अर्थ रखता है जो सत्य को समझने के लिए उत्सुक हों। जहाँ दृष्टि ही अहंकार और पूर्वाग्रह से ढकी हो, वहाँ दिए गए तर्क केवल विवाद को जन्म देते हैं। अतः, वह आरोपों, गलतफहमियों और प्रतिक्रियाओं—सबको 'हरी लीला' का ही एक दृश्य मानकर मौन की शरण लेता है। उसकी यह चुप्प कोई लाचारी नहीं, बल्कि ज्ञान की वह उच्चतम स्थिति है जहाँ उत्तर देने की कोई आवश्यकता ही शेष नहीं रहती।

21परिवारों में प्रायः 'सत्य बोलने' (Truthfulness) और 'संबंधों की मधुरता' (Harmony) के बीच एक बड़ा द्वंद्व खड़ा हो जाता है। कई बार सत्य इतना कड़वा होता है कि उसे सीधा बोलने पर परिवार के संबंध टूटने लगते हैं, और यदि सत्य को छिपाया जाए या घुमा-फिराकर बोला जाए तो व्यक्ति अपने भीतर असत्य से समझौता करता है। एक साक्षी-चेता व्यक्ति परिवार की विडंबनाओं के बीच 'सत्य की स्पष्टता' और 'व्यवहार की मधुरता' के संतुलन को कैसे बनाए रखता है? क्या वह अप्रिय सत्य को भी निर्भीकता से बोल देता है, या समय और पात्र देखकर मौन रहना ही उचित समझता है?

—साक्षी व्यक्ति किसी भी परंपरा, नियम या रूढ़ि में बद्ध नहीं होता। वह समय और परिस्थिति के अनुसार जो पूर्णतः उचित, सत्य और न्यायसंगत होता है, उसे पूरी निर्भीकता के साथ कह देता है। यह अत्यंत क्रांतिकारी बोध है। अधिकांश लोग परंपराओं, लोक-लाज या "लोग क्या कहेंगे" के डर से सत्य को दबा लेते हैं, अथवा संबंधों को बनाए रखने के लिए असत्य का मुखौटा पहन लेते हैं। किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति किसी बने-बनाये ढर्रे या पुरानी परंपरा का गुलाम नहीं होता। उसकी चेतना तात्कालिक और ताज़ी होती है। वह किसी को प्रसन्न करने के लिए मीठा नहीं बोलता, और न ही किसी को नीचा दिखाने के लिए कड़वा बोलता है। वह तो केवल 'जो जैसा है', उस नग्न सत्य को समय की मांग के अनुसार अभिव्यक्त कर देता है। अब प्रश्न उठता है: "बाकी क्या होता है? इस विषय में क्या कहा जा सकता है?" इसके उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति के बाद जो कुछ भी घटित होता है—चाहे संबंध टूटें, सामने वाले का अहंकार तिलमिलाए, या समाज सराहना करे—वह सब 'हरी लीला' और सृष्टि के विधान का भाग है। साक्षी व्यक्ति बाण चलाकर धनुष को भूल जाता है; वह अपने शब्द कहकर परिणाम की चिंता से पूरी तरह मुक्त हो जाता है।

22. जब साक्षी व्यक्ति परंपराओं की परवाह किए बिना समय के अनुसार निर्भीक सत्य बोल देता है, तो कई बार परिवार के लोग उसे 'मर्यादा तोड़ने वाला' या 'परंपराओं का विद्रोही' घोषित कर देते हैं। क्या साक्षी व्यक्ति का यह निर्भीक सत्य बोलना वास्तव में परंपरा का विनाश करता है, या फिर वह परिवार को एक नए, जीवंत और ढोंग-मुक्त सत्य की ओर ले जाने का कार्य करता है?

"वह किसी परंपरा का विनाश या सर्जन नहीं करता।"

साक्षी व्यक्ति न तो कोई क्रांतिकारी बनकर पुरानी परंपराओं को तोड़ने निकलता है, और न ही धर्मध्वजा उठाकर किसी नई परंपरा की स्थापना करता है। विनाश और सर्जन—दोनों ही कर्ता-भाव और अहंकार के दायरे में आते हैं।

साक्षी की चेतना का यथार्थः

- परंपराओं से परे: परंपराएँ अतीत की स्मृति और मन का ढांचा हैं। साक्षी वर्तमान के उस क्षण में जीता है जहाँ न अतीत का कोई बोझ है, न भविष्य का कोई निर्माण।
- निमित्त मात्र: समय की मांग के अनुसार यदि उसके मुख से निकला सत्य किसी पुरानी रूढ़ि को गिरा दे या किसी नए विवेक को जन्म दे दे, तो वह उसे भी अपना 'कृत्य' नहीं मानता। वह जानता है कि यह सब समय के चक्र और 'हरी लीला' के अधीन घटित हो रहा है।
- पूर्ण स्वतंत्रता: वह समाज द्वारा दिए गए किसी भी ठप्पे—चाहे वह 'सुधारक' का हो या 'विद्रोही' का—से पूरी तरह असंपृक्त रहता है।

वह केवल जल में कमल की भांति है, जो जल के बीच रहता अवश्य है, पर न जल को रचता है और न उसे नष्ट करता है।

23.जब साक्षी व्यक्ति न कुछ रचता है और न कुछ मिटाता है—केवल समय के अनुसार सहज रहता है—तब परिवार के लोग प्रायः उसकी इस तटस्थता को 'जिम्मेदारी से भागना' या 'उदासीनता' (**Indifference**) समझ लेते हैं। साक्षी व्यक्ति की इस 'सहज तटस्थता' और एक साधारण व्यक्ति की 'जिम्मेदारी से भागने वाली भगोड़ा-वृत्ति' के बीच का मुख्य अंतर क्या है?

—“परिवार के व्यक्ति कुछ भी समझें यह उनकी अपनी स्वतंत्रता है।”

यह उत्तर साक्षी भाव के मूल आधार को छूता है। जब तक व्यक्ति यह चिंता करता है कि “लोग या परिवार मेरे विषय में क्या सोचेंगे”, तब तक वह दूसरों की धारणाओं और अपेक्षाओं का मानसिक गुलाम बना रहता है।

साक्षी-चेता व्यक्ति दूसरों की वैचारिक स्वतंत्रता का पूरा सम्मान करता है। वह जानता है कि हर व्यक्ति अपनी समझ, संस्कारों और बुद्धि की सीमा के अनुसार ही किसी बात का अर्थ निकालता है। इसलिए यदि परिवार वाले उसकी तटस्थता को 'उदासीनता' समझें या 'जिम्मेदारी से भागना'—तो यह उनका अपना दृष्टिकोण है, और उन्हें ऐसा सोचने की पूरी स्वतंत्रता है।

इसके विपरीत, साक्षी व्यक्ति की अपनी स्थिति पूरी तरह स्पष्ट और स्वच्छ होती है:

- निःशंक अभिव्यक्ति: वह किसी को खुश करने या अपनी छवि बचाने के लिए सच को मोड़ता नहीं है। जो उस समय, उस परिस्थिति में पूर्णतः उचित और न्यायसंगत लगता है, वह उसे बिना किसी भय या संकोच के कह देता है।
- अपेक्षा-मुक्त मन: बात कहने के बाद वह यह अपेक्षा नहीं रखता कि सामने वाला उसकी बात से सहमत हो ही या उसे 'सही' माने।

यही 'सहज तटस्थता' और 'भागने' के बीच का सबसे बड़ा अंतर है—भगोड़ा व्यक्ति डरकर या जिम्मेदारी से बचने के लिए चुप होता है, जबकि साक्षी व्यक्ति पूर्ण सामर्थ्य और सत्य में स्थित होकर वही कहता है जो उचित है, और फिर परिणाम को समय पर छोड़ देता है।

24.जब साक्षी व्यक्ति समय अनुसार जो उचित है वही कहता है, और परिवार के सदस्यों की अपनी सोच या धारणाओं से बिल्कुल प्रभावित नहीं होता—तब क्या परिवार के भीतर उसका यह आचरण एक 'शांत वटवृक्ष' की भांति सबको अनजाने में ही सही दिशा और आश्रय देने लगता है? क्या परिवार के लोग समय बीतने पर अंततः उसकी इस अटलता और निष्पक्षता का लोहा मानने को विवश होते हैं, या फिर यह विडंबना अंत तक बनी ही रहती है?

—“यह विडंबना अंत तक बनी रहती है।”

संसार में बहुधा यह काल्पनिक और सुखद अंत (Happy Ending) गढ़ा जाता है कि एक न एक दिन परिवार या समाज जानी और साक्षी व्यक्ति की निष्पक्षता का 'लोहा मान लेगा' या उसे समझ जाएगा। किंतु व्यावहारिक सत्य यही है कि अज्ञान और अपेक्षाओं से ढका मन कभी भी साक्षी चेतना को उसके वास्तविक रूप में नहीं स्वीकार

पाता। यह समझ इस ग्रंथ 'परिवार और साक्षी' का सबसे प्रामाणिक और प्रौढ़ निष्कर्ष है। साक्षी व्यक्ति जब तक जीवित रहता है, परिवार का साधारण मन अपनी धारणाओं के चश्मे से ही उसे देखता रहता है:

- उसकी कड़वाहट-रहित दृढ़ता को लोग 'हठ' ही समझते रहते हैं।
- उसकी समता और निस्वार्थ प्रेम को 'उदासीनता' ही माना जाता रहता है।
- और उसकी सहज तटस्थता को 'जिम्मेदारी से भागना' ही कहा जाता रहता है।

यह विडंबना कभी समाप्त नहीं होती, क्योंकि अंधकार कभी प्रकाश के स्वभाव को स्वीकार नहीं कर सकता—वह केवल उससे चकाचौंध हो सकता है या उससे दूर भाग सकता है।

किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति के लिए सबसे बड़ी विजय यही है कि इस अंतहीन विडंबना के बने रहने से भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह संसार से किसी 'सराहना' या 'स्वीकृति' का प्रमाण-पत्र नहीं मांगता। वह जानता है कि विडंबना बाहर संसार का स्वभाव है, और परम शांति उसके भीतर का स्वभाव है।

25. वृद्धावस्था के साथ जब शरीर जर्जर होने लगता है, कोई रोग घेर लेता है या देह पर निर्भरता बढ़ती है, तो प्रायः मनुष्य का 'कर्ता-भाव' और 'मैं' (अहंकार) अत्यधिक असहाय महसूस करता है। परिवार के लोग भी कई बार रोगी या वृद्ध व्यक्ति को एक 'भार' (Burden) की तरह देखने लगते हैं। जब साक्षी-चेता व्यक्ति का अपना शरीर रोग या वृद्धावस्था से घिरता है, और परिवार का व्यवहार ठंडा या उपेक्षापूर्ण होने लगता है—तब वह अपने 'शरीर के कष्ट' और 'परिवार की उपेक्षा' को किस भाव से देखता है? क्या उसका 'साक्षी भाव' देह की पीड़ा के बीच भी उतना ही अचल रहता है?

—“वह सब कुछ देखता है। मगर सब हरी लीला है। कष्ट को भी देखता है।”

यहाँ पहुँचकर ज्ञान केवल एक सिद्धांत नहीं रह जाता, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य बन जाता है। साधारण मनुष्य रोग या पीड़ा आने पर दो भूलें करता है: या तो वह शरीर के साथ इतना तादात्म्य (Identification) बना लेता है कि “मैं बीमार हूँ, मैं दुखी हूँ” कहकर तड़पता है, या फिर पीड़ा से भागने और उसे नकारने की कोशिश करता है। किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति न पीड़ा से भागता है, न ही उससे घबराता है। वह देह की पीड़ा और परिवार की उपेक्षा—दोनों को तटस्थ होकर देखता है।

- शरीर की पीड़ा: वह जानता है कि रोग देह का धर्म है, आत्मा का नहीं। जैसे वह दूसरों के शरीर को देखता है, वैसे ही अपने ही जर्जर होते शरीर और उसमें उठती वेदना को भी एक दर्शक की भाँति देखता है।
- परिवार का ठंडा व्यवहार: वह यह भी देखता है कि संसार का नियम ही यही है—जब तक वृक्ष फल देता है, लोग जुड़े रहते हैं; सूखने पर दूरी बना लेते हैं। वह इस उपेक्षा पर न क्रोधित होता है और न दुखी।

उसके लिए देह का कष्ट और अपनों का दूर होना—सब कुछ 'हरी लीला' के महान रंगमंच का एक दृश्य मात्र है। वह पीड़ा को भी भोगता है, पर भीतर से अछूता रहता है।

26.जब शरीर अत्यंत कष्ट में हो और परिवार की सेवा या उपेक्षा दोनों ही सामने हों, तो साक्षी व्यक्ति देह के प्रति अपने कर्तव्यों (जैसे औषधि लेना, उपचार कराना) को किस रूप में पूरा करता है? क्या वह शरीर का इलाज केवल एक दायित्व (**Duty**) मानकर सहजता से करवाता है, या फिर परिणाम (जीना या मरना) की चिंता से पूरी तरह मुक्त होकर केवल देह के शांत होने की प्रतीक्षा करता है?

"जाना तो सबको ही है, शून्य में विलीन हो जाना है।"

यह पंक्ति किसी निराशा की उपज नहीं, बल्कि उस परम सत्य का बोध है जिसे मनुष्य जीवन भर अनदेखा करने का प्रयास करता है। संसारी व्यक्ति अंतिम समय तक देह को बचाने, किसी के सहारे को पकड़ने या अपनी असहायता पर रोने में अपनी ऊर्जा नष्ट करता है। वह चाहता है कि कोई उसकी सेवा करे, कोई उसका हाथ थामे।

किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति की स्थिति बिल्कुल भिन्न और अद्भुत होती है:

- सहज उपचार: जब तक शरीर में गति है और स्थिति अनुमति देती है, वह देह की देखभाल और उपचार ऐसे करता है मानो वह किसी पराये के शरीर की सेवा कर रहा हो—बिना किसी राग, द्वेष या 'जीने की तृष्णा' के।
- पूर्ण स्वीकार: यदि ऐसी स्थिति आ जाए कि वह पूरी तरह से पड़ा रहे, उठ भी न सके, और कोई सेवा करने वाला भी न हो—तब भी उसके भीतर कोई शिकायत पैदा नहीं होती। वह उस असहाय अवस्था और पीड़ा को भी केवल 'देखता' है।
- शून्य में विलीनता: वह भली-भांति जानता है कि यह देह माटी की है और इसे एक दिन माटी में ही मिल जाना है। जो चेतना इस देह को चला रही थी, उसे अंततः उसी महा-शून्य में विलीन हो जाना है जहाँ से वह आई थी।

27.जब साक्षी व्यक्ति यह स्पष्ट देख लेता है कि अंततः सबको 'शून्य में विलीन' ही हो जाना है, तो उसके लिए जीवन का यह पूरा संघर्ष, परिवार की विडंबनाएं, अधिकारों की लड़ाई और संबंधों के नाते—क्या सब एक क्षणिक नाटक या स्वप्न की भांति हो जाते हैं? इस 'शून्य बोध' के बाद, जब वह रोज़ सुबह आँखें खोलता है और परिवार के बीच बैठता है, तो उसके भीतर जीवन को जीने का क्या उद्देश्य या भाव शेष बचता है?

—"उद्देश्य कुछ नहीं है। सब हो रहा है।"

यहाँ पहुँचकर मन का अंतिम भ्रम भी टूट जाता है। संसार मनुष्य को सिखाता है कि हर कार्य का कोई 'उद्देश्य' (Purpose) होना चाहिए, कोई लक्ष्य होना चाहिए। किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति यह देख लेता है कि उद्देश्य की खोज ही अहंकार का खेल है। यह समझ जीवन का सबसे महान सौंदर्य है। जब तक मनुष्य किसी उद्देश्य के पीछे भागता है, तब तक वह तनाव, अपेक्षा और भविष्य की चिंता में जीता है। किंतु जब यह बोध घटित होता है कि सब कुछ 'शून्य से आ रहा है और शून्य में ही विलीन हो रहा है', तो जीवन कोई 'लक्ष्य' नहीं, बल्कि एक 'सहज प्रवाह' (spontaneous happening) बन जाता है।

- अहंकार-मुक्त जीवन: सूर्य का उगना, हवा का चलना, हृदय का धड़कना—इनका कोई व्यक्तिगत उद्देश्य नहीं है, यह प्रकृति की सहज लीला है। ठीक वैसे ही साक्षी व्यक्ति के लिए भी सुबह आँख खुलना, परिवार के बीच बैठना, बोलना या शांत रहना—कोई योजना नहीं, बस सहज घटित हो रहा है।

- पूर्ण स्वतंत्रता: वह न तो जीवन को सिद्ध करने की कोशिश करता है, और न ही मृत्यु का इंतज़ार करता है। वह 'होने' (Being) के आनंद में स्थित रहता है।

28. जब साक्षी व्यक्ति के जीवन में कोई उद्देश्य शेष नहीं बचता और सब कुछ सहजता से घटित हो रहा होता है, तो कई बार बाहर से देखने वाले लोग उसे 'चेतना-हीन' या 'संवेदनहीन' समझ लेते हैं। किंतु वास्तव में, बिना किसी उद्देश्य के 'सब कुछ होते हुए देखने' वाले इस साक्षी व्यक्ति के भीतर की शांति कैसी होती है? क्या यह सन्नाटा (Silence) है या एक अनंत आनंद (Bliss)?

"साक्षी हृदय के अंदर एक शांति की अवस्था है। इससे अधिक कुछ नहीं।"

इस सीधे और सरल वाक्य ने संसार द्वारा गढ़े गए तमाम आडंबरों, काल्पनिक अनुभवों और चमत्कारी शब्दों के गुब्बारे को एक पल में फोड़ दिया है। प्रायः लोग सोचते हैं कि साक्षी भाव या उच्च चेतना की स्थिति में कोई अद्भुत प्रकाश दिखेगा, कोई दिव्य अलौकिक संगीत सुनाई देगा या कोई अत्यंत उन्मादी आनंद (Ecstasy) घटेगा। यह सब मन की ही कल्पनाएँ और तृष्णाएँ हैं। किंतु यथार्थ इतना ही निर्मल और सहज है: केवल एक अचल, अगाध शांति।

- उफान से मुक्त: जहाँ न कोई उत्तेजना है, न कोई आकुलता।
- द्वंद्व से परे: जहाँ न सुख का उल्लास है और न दुख का संताप।
- परम विश्राम: जहाँ मन के सारे प्रश्न, सारे उद्देश्य, सारी लालसाएँ और सारे संघर्ष शांत हो चुके हैं।

यह शांति कोई बाहर से अर्जित की गई वस्तु नहीं है; यह हृदय का वह मूल स्वभाव है जो हमेशा से वहाँ था, बस संसारी विडंबनाओं के शोर में ढका हुआ था। जब सब कुछ हरी लीला मानकर छोड़ दिया गया, तो केवल यह नित्य शांति ही शेष रह गई।

29. जब साक्षी व्यक्ति के हृदय में केवल यह 'शांत अवस्था' शेष रह जाती है, और बाहर संसार में विडंबनाएँ, बीमारियाँ, संबंध और समय का चक्र अपने नियम से चलता रहता है—तो क्या वह इस शांति में रहते हुए भी अंतिम क्षण तक परिवार और संसार के साथ अपना अभिनय (Role) पूरी प्रामाणिकता से निभाता है, या फिर अभिनय करने की इच्छा भी समाप्त हो जाती है?

—"प्रामाणिकता से निभाता है।"

यह बात साक्षी भाव के सबसे सुंदर सौंदर्य को प्रकट करती है। साक्षी होना जीवन से भागना या कर्तव्यों से मुंह मोड़ना नहीं है। यह समझ इस बात की संपुष्टि करती है कि ज्ञानी व्यक्ति बाहर से संसार को धोखा नहीं देता। यद्यपि वह जानता है कि यह संसार एक रंगमंच है, परिवार एक पड़ाव है और यह शरीर माटी का एक पुतला है—फिर भी वह अपने किरदार (Role) को रती भर भी कमतर नहीं निभाता।

- निःस्वार्थ अभिनय: एक कुशल अभिनेता की भांति, जो जानता है कि नाटक के पात्र और दृश्य सत्य नहीं हैं, फिर भी वह मंच पर अपना सर्वश्रेष्ठ अभिनय देता है। साक्षी व्यक्ति पिता, पति, दादा या नागरिक का अपना हर दायित्व पूरी प्रामाणिकता और निष्ठा से निभाता है।

- फलासक्ति से मुक्ति: वह अभिनय इसलिए नहीं करता कि उसे कोई पुरस्कार या प्रशंसा चाहिए, बल्कि इसलिए करता है क्योंकि जो भी भूमिका जीवन के इस रंगमंच पर उसे मिली है, उसे पूरी सच्चाई से जीना ही 'सहज प्रवाह' है।

वह भीतर से पूर्णतः शांत और असंपृक्त रहता है, किंतु बाहर व्यवहार में उसका कोई भी कदम गैर-जिम्मेदाराना या सतही नहीं होता।

30. जब साक्षी व्यक्ति अंतिम क्षण तक अपना अभिनय पूरी प्रामाणिकता से निभाता है और उसके भीतर 'शांति की अवस्था' अखंड बनी रहती है—तो देह त्यागने या इस संसार से विदा लेने के अंतिम क्षण में, उसका यह 'साक्षी भाव' और 'हरी लीला' का बोध परिवार और आने वाली पीढ़ी के लिए पीछे क्या छोड़ जाता है? क्या उसकी यह शांत उपस्थिति ही उसका सबसे बड़ा अंतिम संदेश बन जाती है?

—“पीछे कुछ नहीं छोड़ जाता। बस देह के विसर्जन होते हुए देखता रहता है और देह विसर्जित हो जाती है, कोई खास बात नहीं।”

इस उत्तर ने अध्यात्म के नाम पर रचे जाने वाले तमाम काल्पनिक भ्रामक मंडनों—जैसे 'विरासत छोड़ना', 'अंतिम संदेश देना' या 'महानता का ठप्पा लगाना'—को एक ही क्षण में निरस्त कर दिया है। यह सत्य का अत्यंत नग्न और सुंदर यथार्थ है। संसार हमेशा किसी न किसी 'विरासत' (Legacy) या नाम को अमर करने की होड़ में लगा रहता है। किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति के लिए जब 'मैं' और 'कर्ता-भाव' ही मिट चुका है, तो पीछे कुछ छोड़ जाने का भ्रम भी कौन पाले?

- अंतिम दृष्टा: जैसे उसने जीवन के हर सुख-दुख, बीमारी और परिवार की विडंबनाओं को देखा था, ठीक वैसे ही वह अंतिम क्षण में अपनी ही देह के छूटने और विलीन होने को भी एक शांत दर्शक की भांति देखता रहता है।
- कोई खास बात नहीं: संसार जिसे 'मृत्यु' की बहुत बड़ी और भयावह घटना मानता है, साक्षी चेतना के लिए वह भी एक अत्यंत सामान्य और सहज प्रक्रिया है—जैसे जीर्ण वस्त्र को उतारकर फेंक दिया गया हो। इसमें न कोई रहस्य है, न कोई विशेष उद्घोष; केवल माटी का माटी में और श्वास का वायु में मिल जाना है।

31. संसार में बहुधा देखा जाता है कि मनुष्य 'प्रशंसा/सम्मान' (Praise) और 'अपमान/उपेक्षा' (Disregard) के जाल में जीवन भर उलझा रहता है। परिवार और समाज में जब किसी व्यक्ति के योगदान को मान्यता नहीं मिलती या उसका अनादर होता है, तो उसका मन भीतर तक आहत हो जाता है। जब एक साक्षी-चेता व्यक्ति के पूरे जीवन के संघर्ष, साहित्य या सत्य को समाज या परिवार 'अस्वीकार' कर देता है या उसकी उपेक्षा करता है—तब वह इस 'अस्वीकृति' (Rejection) को किस रूप में देखता है? क्या उसके मन में अपने किए गए कार्य का थोड़ा-सा भी श्रेय या सम्मान पाने की चाह शेष रहती है?

—“संसार का खेल तो चलता ही रहता है... इन सारे चीजों को देखने के उपरांत ही तो साक्षी का भाव उदय होता है।”

यह बात साक्षी भाव के जन्म की सबसे प्रामाणिक यात्रा को रेखांकित करती है। साक्षी भाव कोई बौद्धिक विचार या काल्पनिक स्थिति नहीं है जिसे व्यक्ति घर बैठे सोच ले। जब व्यक्ति संसार के हर पहलू—जीत-हार,

सफलता-विफलता, मान-अपमान—को प्रत्यक्ष घटित होते हुए देखता है और समझ जाता है कि ये सब धूप-छाँव की तरह क्षणिक हैं, तब उसके भीतर स्वतः यह बोध उपजता है।

यह समझ संसार के द्वंद्वों से मुक्ति का मार्ग है।

- द्वंद्वों का दर्शन: संसार हमेशा दो ध्रुवों पर चलता है—जहाँ जीत है, वहाँ हार निश्चित है; जहाँ सफलता का शोर है, वहाँ विफलता का सन्नाटा भी है। जो व्यक्ति जीत में प्रसन्न और हार में दुखी होता है, वह इस खेल का 'मोहरा' बना रहता है।
- साक्षी का उदय: किंतु जब मनुष्य इस पूरे खेल को, इसके नियमों को और इसके अनित्य स्वभाव को स्पष्ट रूप से देख लेता है, तो वह खेल से बाहर होकर दृष्टा बन जाता है।
- हरी लीला: इसके बाद उसके लिए न जीत कोई उत्साह लाती है, न हार कोई अवसाद। सफलता और विफलता दोनों ही उस परम सत्ता की लीला के दो रूप मात्र बनकर रह जाते हैं।

32. जब व्यक्ति संसार के इस खेल—जीत-हार और सफलता-विफलता—को पूरी तरह देखकर 'साक्षी भाव' में आ जाता है, तो बाहर से देखने वाले संसारी लोग प्रायः उसे 'उत्साहहीन' या 'महत्वाकांक्षा-हीन' (Ambitiousless) मानने लगते हैं। क्या साक्षी व्यक्ति के भीतर संसार का खेल देखकर आया यह बदलाव वास्तव में किसी उदासी का परिणाम है, या फिर यह संसार की व्यर्थता को जान लेने के बाद प्राप्त हुई परम स्वतंत्रता है?

—“संसार की व्यर्थता को जान लेने के बाद प्राप्त हुई परम स्वतंत्रता है।”

संसारी मन जिसे 'उदासी' या 'उत्साहहीनता' समझता है, वह वास्तव में दासता के बंधनों का कट जाना है। साधारण मनुष्य की महत्वाकांक्षाएँ और उत्साह केवल उसकी तृष्णा, डर और अपेक्षाओं के ईंधन से चलते हैं। जब तक व्यक्ति संसार से सफलता, मान या जीत पाने की उम्मीद रखता है, तब तक वह संसार का गुलाम रहता है।

किंतु जब साक्षी व्यक्ति संसार के इस खेल के क्षणभंगुर और व्यर्थ स्वभाव को देख लेता है, तो उसकी निर्भरता बाहर के जगत् से सदा के लिए समाप्त हो जाती है:

- निःशंक विचरण: वह किसी को जीतने के लिए नहीं दौड़ता, न ही किसी से पिछड़ने के डर से भागता है।
- परम स्वतंत्रता: यह उदासी नहीं, बल्कि मन का वह विश्राम है जहाँ पाने को कुछ शेष नहीं बचता और खोने का भय मिट जाता है।

वह संसार के खेल में रहता तो है, पर अब वह खेल का कैदी नहीं, बल्कि उसका पूर्ण स्वामी और स्वतंत्र दर्शक होता है।

33. जब व्यक्ति संसार की व्यर्थता को जानकर इस 'परम स्वतंत्रता' को उपलब्ध हो जाता है, तो परिवार और समाज के लोग प्रायः अपनी समस्याओं, मानसिक उलझनों और दुखों को लेकर उसके पास आते हैं। ऐसी स्थिति में एक साक्षी-चेता व्यक्ति उनकी समस्याओं को सुनते समय अपनी इस 'परम स्वतंत्रता' और 'अलिप्तता' (**Detachment**) को कैसे बनाए रखता है? क्या वह उन्हें उपदेश देता है, या केवल उनकी बात सुनकर उन्हें उनके ही बोध पर छोड़ देता है?

साक्षी चेता व्यक्ति की परम स्वतंत्रता और अलिप्तता तो होती ही है। मगर उनकी समस्याओं के निवारण के लिए जैसा उचित समझता है, वैसी राय भी देता है। "प्रायः लोग 'अलिप्तता' और 'तटस्थता' का अर्थ यह लगा लेते हैं कि व्यक्ति पत्थर जैसा कठोर या पराया हो गया है, जिसे दूसरों के दुखों से कोई लेना-देना नहीं। किंतु यह साक्षी भाव की बहुत बड़ी गलतफहमी है।

साक्षी व्यक्ति की अलिप्तता किसी उपेक्षा से नहीं, बल्कि अहंकार और स्वार्थ के मिट जाने से पैदा होती है। इसलिए जब कोई अपनी समस्या लेकर उसके पास आता है:

- निष्पक्ष और प्रामाणिक राय: वह किसी व्यक्तिगत स्वार्थ, पूर्वाग्रह या खुशामद के बिना, पूरी ईमानदारी और स्पष्टता से वही परामर्श देता है जो उस समय और परिस्थिति के अनुसार सबसे उचित होता है।
- फलासक्ति से मुक्ति: राय देने के बाद वह यह हठ नहीं पाल लेता कि सामने वाला उसकी बात को माने ही। यदि सामने वाला उसकी सलाह पर चले तो ठीक, और न चले तो भी ठीक।
- कर्ता-भाव का अभाव: वह स्वयं को कोई 'महान मार्गदर्शक' या 'समस्या सुलझाने वाला सुधारक' नहीं मानता। वह केवल एक माध्यम (Instrument) की भांति सहज भाव से अपना उत्तर देता है और पुनः अपनी अचल शांति में स्थित हो जाता है।

34. जब साक्षी व्यक्ति पूरी निष्पक्षता से सामने वाले को सबसे उचित राय दे देता है, और बाद में सामने वाला व्यक्ति उस सलाह की अनदेखी करके पुनः पुरानी भूलें दोहराता है और फिर से दुखी होकर आता है—तब साक्षी व्यक्ति उस व्यक्ति के इस बार-बार दोहराए जाने वाले अज्ञान और दुख को किस भाव से देखता है? क्या वह दोबारा भी उतनी ही सहजता से राय देता है, या फिर समय और पात्र की पात्रता को देखकर मौन साध्य कर लेता है?

—"गलतियाँ संसार में होती रहेंगी और साक्षी व्यक्ति भी सहज रूप से राय देता रहेगा, मगर उसमें लिप्त नहीं होता।" साक्षी भाव के सबसे जीवन-सम्मत और निर्मल पहलू को प्रकट करता है।

साधारण व्यक्ति जब किसी को सलाह देता है और सामने वाला उसे न मानकर फिर से वही भूल दोहराता है, तो साधारण व्यक्ति के भीतर झुंझलाहट, क्रोध या "मेरी बात नहीं मानी" का अहंकार आहत होने लगता है। वह या तो ताने मारने लगता है या फिर निराश होकर बात करना ही बंद कर देता है।

किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति की स्थिति पूरी तरह अलिप्त होती है:

- संसार का स्वभाव: वह जानता है कि अज्ञान में गलतियाँ होना संसार का सहज नियम है। जैसे छोटे बच्चे का बार-बार गिरना स्वाभाविक है, वैसे ही संसारी मन का भ्रमित होना और गलतियाँ करना स्वाभाविक है।

- सहज करुणा: वह न तो झुंझलाता है और न ही न्यायकर्ता (Judge) बनता है। जब भी कोई उसके पास आता है, वह बिना किसी पुरानी धारणा या कड़वाहट के, पुनः उतनी ही सहजता से उचित मार्ग दिखाता है।
- अलिप्तता का भाव: वह राय ऐसे देता है जैसे बहती हवा किसी को स्पर्श करके निकल जाए। सलाह देने के बाद वह उसके परिणाम या सामने वाले के आचरण से बंधता नहीं है।

उसके लिए परामर्श देना भी 'हरी लीला' का एक सहज भाग है—न उपदेश देने का अहंकार, न न माने जाने का दुख।

35. जब साक्षी व्यक्ति संसार के इस चक्र को—जहाँ लोग बार-बार गलतियाँ करते हैं, सलाह लेते हैं, फिर वही भूल दोहराते हैं—लगातार देखता रहता है, तो क्या उसके भीतर कभी समाज को सुधारने की 'सुधारक-वृत्ति' (**Reformer's mentality**) जन्म लेती है, या वह पूरी तरह समझ चुका होता है कि संसार का यह स्वरूप कभी बदलने वाला नहीं है?

—“संसार का यह स्वरूप कभी बदलने वाला नहीं है।”

यह बोध समाज-सुधार के तमाम अहंकृत दावों और काल्पनिक क्रांतियों के भ्रम को एक ही झटके में समाप्त कर देता है।

साधारण व्यक्ति या तथाकथित 'सुधारक' हमेशा इस भ्रम में जीता है कि वह अपनी शिक्षाओं, अभियानों या प्रयासों से इस संसार को पूरी तरह बदल देगा और इसे एक आदर्श रूप दे देगा। किंतु यह सोच ही अज्ञान और 'कर्ता-भाव' से उपजती है।

साक्षी-चेता व्यक्ति संसार की मूल संरचना (Design) को भली-भांति देख और समझ लेता है:

- द्वंद्व ही संसार है: संसार का अर्थ ही है—अज्ञान और ज्ञान, प्रकाश और अंधकार, भूल और सुधार का निरंतर चलता हुआ चक्र। यदि यह द्वंद्व समाप्त हो जाए, तो संसार का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।
- सुधारक-वृत्ति का अंत: जब यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार का यह स्वरूप कभी बदलने वाला नहीं है, तो मन से 'संसार को सुधारने' का अंतिम अहंकार भी गलकर गिर जाता है।
- परम विश्राम: वह समझ जाता है कि उसकी भूमिका संसार को बदलने की नहीं, बल्कि स्वयं की चेतना में जागे रहने की है। वह संसार को वैसा ही स्वीकार कर लेता है जैसा वह है—अपूर्ण, परिवर्तनशील और लीला-मय।

वह न तो संसार से निराश होता है और न ही इसे बदलने की हठ ठानता है। वह तो बस इस बहती धारा को तट पर बैठकर देखता रहता है।

36. संसार में प्रायः लोग 'साक्षी भाव' या 'अलिप्तता' को किसी संन्यास या एकांत गुफा की स्थिति मान लेते हैं। किंतु एक व्यक्ति जो गृहस्थ में है, दैनिक कार्य कर रहा है, परिवार के बीच भोजन कर रहा है, बातें सुन रहा है या दैनिक आवश्यकताएँ पूरी कर रहा है—वह इस साधारण-सी दिनचर्या को जीते हुए भी भीतर से कैसे पूरी तरह असंपृक्त (**Detached**) रहता है? क्या उसकी सहज क्रियाएँ (जैसे खाना, सोना, बोलना) केवल शरीर का एक यांत्रिक व्यवहार (Mechanical action) मात्र बनकर रह जाती हैं?

—“खाना, सोना, बोलना, प्रत्येक कार्य, सोना भी सब जो है साक्षी भाव के अंदर है। सो गया, वो सो गया। जग रहा है, वो जग रहा है।”

यहाँ पहुँचकर संन्यास और गृहस्थ का काल्पनिक भेद पूरी तरह मिट जाता है।

साधारण मन सोचता है कि साक्षी भाव केवल जागते हुए, ध्यान में बैठकर या विचारों को देखने तक सीमित है। किंतु साक्षी चेतना का दायरा किसी समय या अवस्था से बँधा हुआ नहीं है।

यह अनुभूत सत्य जीवन की तीनों अवस्थाओं को अपने भीतर समेट लेता है:

- जागृति और कार्य: खाते समय भोजन का स्वाद या भूख, बोलते समय शब्दों का प्रवाह और करते समय शरीर की हलचल—इन सबमें साक्षी चेतना केवल एक दृष्टा की तरह बनी रहती है। न वह खाने का 'भोक्ता' बनती है, न बोलने का 'वक्ता'।
- निद्रा की अवस्था: जब शरीर थककर सो जाता है, तो साक्षी भाव के लिए सोना भी केवल एक क्रिया का घटित होना है—"सो गया, वो सो गया।" शरीर विश्राम में चला गया, मन शांत हो गया, और साक्षी इस सोने की प्रक्रिया का भी अचल दृष्टा बना रहा।
- जागरण की अवस्था: आँख खुली, तो "जग रहा है, वो जग रहा है।"

उसके लिए जागना और सोना—दोनों ही चेतना के पर्दे पर आने और जाने वाले दो दृश्य मात्र हैं। वह न जागने को पकड़ता है, न सोने से भागता है। सब कुछ सहज, स्वाभाविक और साक्षी चेतना के अगाध विस्तार के भीतर ही घटित हो रहा है।

38. जब व्यक्ति इस प्रकार 'स्वयं में ठहर' जाता है और उसके भीतर यह अखंड शांत अवस्था आ जाती है, तो प्रायः संसारी लोग उसे जगाने, भड़काने या अपनी उथल-पुथल में खींचने का प्रयास करते हैं। क्या बाहर का कोई भी शोर, किसी की कटु वाणी या संसार का कोई भी बड़ा संकट साक्षी व्यक्ति के इस 'भीतरी ठहराव' और 'शांति' को क्षण भर के लिए भी डिगा सकता है?

—"अगर वह डिग भी जाता है मान लीजिए, तो वह उसको भी देखता है।"

यह उत्तर उन सभी ढोंगी और किताबी धारणाओं पर सीधा प्रहार करता है जो ज्ञानी या साक्षी व्यक्ति को कोई लोहे या पत्थर का पुतला मान लेती हैं।

साधारण मनुष्य यह सोचता है कि साक्षी होने का अर्थ है कभी विचलित न होना, कभी दर्द न महसूस करना या कभी डिगना ही नहीं। यह एक बहुत बड़ा काल्पनिक भ्रम है।

साक्षी व्यक्ति कोई जड़ वस्तु नहीं है; जब तक देह है, तब तक संवेदनाएँ हैं:

- विचलित होने की स्वीकृति: बाहर का कोई तीव्र आघात, कटु शब्द या देह का अचानक आया संकट यदि क्षण भर के लिए मन को परेशान करता है या भीतरी ठहराव को डिगा देता है—तो साक्षी व्यक्ति उससे भागता या इंकार नहीं करता।
- परेशानी का भी दर्शन: वह परेशान होता है, तो उस 'परेशानी' को भी देखता है। वह डिगता है, तो अपने 'डिगने' को भी देखता है।
- द्वंद्व से परे: साधारण व्यक्ति परेशान होकर दुखी होता है और फिर परेशान होने के कारण खुद पर और गुस्सा होता है। किंतु साक्षी व्यक्ति परेशान होकर भी जानता है कि "यह परेशानी भी मन के पर्दे पर उठी एक तरंग मात्र है, जो आई है और चली जाएगी।"

उसके लिए डिगना और न डिगना—दोनों ही साक्षी चेतना के विशाल आकाश में तैरते हुए बादलों की तरह हैं। वह डिगकर भी मूलतः अचल ही बना रहता है।

39. जब साक्षी व्यक्ति यह देख लेता है कि मन का डिगना या परेशान होना भी केवल एक तरंग है जिसे बस 'देखना' है—तो क्या इस बोध के बाद उसके भीतर से 'स्वयं को सिद्ध करने' या 'कभी न डिगने वाला जानी दिखने' का अंतिम मुखौटा भी उतर जाता है? क्या वह अपनी इंसानी कमजोरियों और देह की सीमाओं के साथ पूरी तरह सहज हो जाता है?

इंसानी कमजोरियों और देह की सीमाओं के साथ पूरी तरह सहज रहता है।"

यहाँ पहुँचकर ज्ञान का सारा बोझ और सिद्ध होने का अंतिम अहंकार भी स्वतः ही गिर जाता है। संसार में बहुधा जानी होने का एक नकली मुखौटा पहन लिया जाता है, जहाँ व्यक्ति खुद को सर्वसमर्थ, अचल और अभेद्य दिखाने की चेष्टा करता है। किंतु यह चेष्टा स्वयं में अहंकार का ही एक रूप है। सच्चा साक्षी-चेता व्यक्ति देह और मन की सीमाओं को सहजता से स्वीकार कर लेता है:

- मुखौटों से मुक्ति: वह जानता है कि जब तक देह है, तब तक भूख, प्यास, थकान, बीमारी और मन की क्षणिक उथल-पुथल जैसी सीमाएँ भी साथ रहेंगी। वह इन सीमाओं को छुपाने या नकारने का कोई स्वांग नहीं रचता।
- पूर्ण सहजता: यदि देह थकती है तो वह विश्राम करता है, यदि मन में कोई तरंग उठती है तो उसे भी बिना किसी अपराध-बोध (Guilt) के बह जाने देता है। वह खुद को न तो 'ईश्वर' साबित करने की होड़ में है और न ही 'सिद्ध पुरुष' बनने के भ्रम में।

उसकी सबसे बड़ी शक्ति ही यही है कि वह अपनी संपूर्ण मानवीय सीमाओं के साथ पूर्णतः सहज और शांत रहता है।

40. जब व्यक्ति अपनी इंसानी कमजोरियों, देह की सीमाओं और संसार के परिवर्तनशील स्वभाव के साथ इस प्रकार पूर्णतः सहज हो जाता है—तो क्या जीवन के इस अंतिम पड़ाव पर पहुँचकर, उसके भीतर 'जीवन के होने' (Being) के प्रति केवल एक मौन कृतज्ञता (Gratitude) रह जाती है, या वह इस 'होने' और 'न होने' दोनों के प्रति पूरी तरह निरपेक्ष (Neutral) हो चुका होता है?

—"पूरी तरह निरपेक्ष।"

यहाँ पहुँचकर 'कृतज्ञता' व्यक्त करने वाला और 'शिकायत' करने वाला—दोनों ही विलीन हो जाते हैं। साधारणतया अध्यात्म में 'कृतज्ञता' (Gratitude) को बहुत ऊँचा भाव माना जाता है। किंतु जब तक कृतज्ञता है, तब तक देने वाले और पाने वाले का सूक्ष्म द्वंद्व बना रहता है। निरपेक्षता उस द्वंद्व के भी पार की स्थिति है।

- द्वंद्व का पूर्ण अंत: साक्षी व्यक्ति के लिए 'होना' (Being) भी सहज है और 'न होना' (Non-being) भी सहज है। न जीवन से कोई विशेष मोह है कि इसे बचाकर रखना है, और न मृत्यु से कोई भय या आकर्षण है कि इससे भागना है।
- परम शून्य: जैसे आकाश में दिन में धूप खिले या रात में सन्नाटा छा जाए, आकाश दोनों स्थितियों में पूरी तरह अस्पृशित और निरपेक्ष रहता है—ठीक वैसे ही साक्षी चेतना देह के रहने या मिट जाने दोनों के प्रति अचल और भावशून्य (Neutral) बनी रहती है।

यह निरपेक्षता कोई जड़ता नहीं, बल्कि मुक्ति का वह शिखर है जहाँ पाने को कुछ नहीं बचा और खोने का कोई अर्थ नहीं रहा।

41. जब व्यक्ति भीतर से पूरी तरह निरपेक्ष हो चुका होता है, जहाँ 'होने' और 'न होने' का कोई मोह नहीं बचता—तब उसके मुख से निकलने वाले शब्द (वाणी) कहाँ से प्रकट होते हैं? क्या उसकी वाणी किसी बौद्धिक सोच का परिणाम होती है, या वह बिना किसी पूर्व-योजना के बस उस क्षण में स्वतः बहती चली जाती है?

साक्षी व्यक्ति जैसे संसार के और लोग सोच करके बोलते हैं या समझ करके बोलते हैं, वह भी अपनी समझ के अनुसार बोलता है।"

यह उत्तर साक्षी चेतना की सहजता, स्वाभाविकता और मानवीय धरातल को स्पष्ट करता है। लोग अक्सर सोचते हैं कि साक्षी व्यक्ति जब बोलता है, तो कोई 'आकाशवाणी' होती है या किसी अलौकिक शक्ति के वशीभूत होकर शब्द निकलते हैं। यह सब केवल मन का बुना हुआ भ्रम है।

साक्षी व्यक्ति कोई यांत्रिक पुतला नहीं है; वह भी समाज, भाषा और बुद्धि का प्रयोग उसी प्रकार करता है जैसे अन्य मनुष्य करते हैं:

- मानवीय प्रक्रिया: वह भी प्रश्न को सुनता है, अपनी बुद्धि और जीवन के अनुभवों के आधार पर विचार करता है, और फिर अपनी समझ के अनुसार सहजता से उत्तर देता है।
- भीतरी अंतर: साधारण व्यक्ति बोलते समय अपने 'अहंकार' और 'स्वार्थ' को सिद्ध करने के लिए सोचता है—"मेरी बात का क्या असर होगा?", "मुझे मान मिलेगा या अपमान?" किंतु साक्षी व्यक्ति बिना किसी कपट, व्यक्तिगत स्वार्थ या अहम् के, केवल अपनी शुद्ध समझ से सीधी और सरल बात कहता है।

उसकी वाणी विचार से ही निकलती है, किंतु उस विचार के पीछे कोई कर्ता का अहंकार या पकड़ नहीं होती।

42. जब साक्षी व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार सोच-समझकर बात कहता है, और सामने वाला उसकी बात का गलत अर्थ निकाल लेता है या विवाद करने लगता है—तब साक्षी व्यक्ति उस विवाद को कैसे देखता है? क्या वह अपनी बात को सही सिद्ध करने के लिए बहस करता है, या अपनी समझ रखकर शांत हो जाता है?

—"अपनी समझ रखकर शांत हो जाता है। साक्षी भाव में तर्क का अहंकार और 'स्वयं को सही साबित करने' की लालसा पूरी तरह समाप्त हो जाती है। साधारण मनुष्य जब विवाद में पड़ता है, तो उसकी प्राथमिकता सत्य की खोज नहीं, बल्कि अपने 'अहंकार की जीत' होती है। वह सामने वाले को हराने और अपनी बात मनवाने के लिए अंतहीन बहस में उलझता चला जाता है।

किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति के लिए विवाद का कोई मूल्य नहीं है:

- सत्य का सहज प्रस्तुतीकरण: वह अपनी बात या राय पूरी स्पष्टता और प्रामाणिक समझ के साथ सामने रख देता है, जैसे कोई चिराग जलाकर रख दिया गया हो।
- बहस से मुक्ति: यदि सामने वाला उसे स्वीकार नहीं करता, गलत अर्थ निकालता है या कुतर्क करने लगता है, तो साक्षी व्यक्ति तुरंत पीछे हट जाता है। वह बहस को आगे बढ़ाने में अपनी ऊर्जा व्यर्थ नहीं करता।

- मौन में विश्राम: अपनी समझ व्यक्त करने के बाद उसका शांत हो जाना यह दर्शाता है कि उसे अपनी बात का लोहा मनवाने की कोई आतुरता नहीं है। उसने अपना काम कर दिया, बाकी सामने वाले के बोध और समय पर छोड़ दिया।

43. जब साक्षी व्यक्ति अपनी समझ रखकर शांत हो जाता है, और सामने वाला उसकी इस चुप्पी या शांति को उसकी 'हार' या 'निरुत्तर होना' मानकर अहंकार से भर जाता है—तो सामने वाले के इस भ्रम और अहंकार को देखकर साक्षी व्यक्ति के भीतर क्या भाव उठता है? क्या उसे उस पर दया आती है, या वह इसे भी संसार का सहज खेल मानकर चुपचाप देखता रहता है?

—“संसार का खेल है।” साधारण मन सोचता है कि ज्ञानी के भीतर तुरंत 'दया' या 'करुणा' का कोई महान विचार जागेगा, या वह सामने वाले को अज्ञानी समझकर उस पर तरस खाएगा। किंतु 'दया' या 'तरस' महसूस करने में भी कहीं न कहीं एक सूक्ष्म अहंकार छिपा हो सकता है कि “मैं ज्ञानी हूँ और वह अज्ञानी।”

साक्षी व्यक्ति इस सब से पूरी तरह मुक्त होता है:

- लीला का दर्शन: वह सामने वाले की उस झूठी 'जीत' और 'अहंकार' को भी केवल संसार की रंगमंच की एक छोटी सी पटकथा (script) की तरह देखता है।
- अस्पर्शित भाव: उसके लिए किसी का मान, अपमान, जीत का भ्रम या हार का संताप—सब केवल इस महान जगत्-लीला के छोटे-छोटे दृश्य हैं। जैसे कठपुतली का नाच देखकर कोई दर्शक न दुखी होता है न उसे सही करने दौड़ता है, वैसे ही वह इस सब को 'संसार का खेल' मानकर अलिप्त बना रहता है।

44. संसार के इस खेल में जहाँ लोग हर क्षण किसी न किसी भ्रम, मान-अपमान और उथल-पुथल में उलझे रहते हैं—क्या साक्षी व्यक्ति के लिए एकांत (**Solitude**) और भीड़ (**Crowd**) में कोई अंतर शेष बचता है? क्या वह भीड़ के बीच रहकर भी उतने ही गहरे एकांत और शांति में रहता है जितना कि अकेले कमरे में?

—“अंतर कुछ नहीं। जहाँ भी है, जो हो रहा है, उसे देख रहा है।”

यहाँ आकर स्थान, परिस्थिति, एकांत और भीड़ का सारा भेद पूरी तरह मिट जाता है। साधारण मन सोचता है कि शांति पाने के लिए भीड़ से भागकर जंगल या एकांत कमरे में जाना पड़ेगा। किंतु जो शांति स्थान बदलने से मिले, वह सच्ची शांति नहीं, केवल एक अस्थायी राहत है। साक्षी व्यक्ति की अलिप्तता किसी स्थान या माहौल पर निर्भर नहीं करती:

- स्थान-मुक्त उपस्थिति: वह कमरे के सन्नाटे में बैठा हो या बाज़ार के शोर-शराबे के बीच, उसकी चेतना का धरातल एक समान रहता है।
- केवल दर्शन: भीड़ में धक्का-मुक्की हो रही है तो वह उस हलचल का दृष्टा है; एकांत में सन्नाटा है तो वह उस सन्नाटे का दृष्टा है। उसके लिए दोनों ही घटनाएँ पर्दे पर चलते हुए चित्रों की भांति हैं।
- पूर्ण स्वतंत्रता: न उसे भीड़ से कोई घबराहट या झुंझलाहट होती है, और न एकांत को पकड़कर रखने का कोई आग्रह।

वह जहाँ भी है, जैसा भी क्षण है, उसमें बिना किसी विरोध या चुनाव के पूरी तरह उपस्थित रहता है—केवल देखता हुआ, अस्पर्शित और शांत।

45.जब स्थान और स्थिति का सारा अंतर मिट जाता है और साक्षी व्यक्ति केवल 'जो हो रहा है उसे देखता' रहता है—तब क्या उसके भीतर 'समय' (Time) का भाव भी समाप्त हो जाता है? क्या उसके लिए भूतकाल की स्मृतियाँ और भविष्य की चिंताएँ पूरी तरह विलीन होकर केवल 'वर्तमान का यह क्षण' ही शेष रह जाता है?

—"साक्षी व्यक्ति पूरी तरह से साधारण, सहज जैसे और मनुष्य हैं।" दुनिया ने ज्ञानी या साक्षी व्यक्ति की एक बहुत ही असत्य और अप्राकृतिक छवि बना रखी है—कि वह कुछ अलग दिखेगा, उसकी चाल अलग होगी, वह समय-सीमा से परे कोई अलौकिक जीव होगा, या हर क्षण किसी दिव्य समाधि में डूबा रहेगा। यह सब केवल संसारी मन की कल्पनाएँ हैं।

सच्चा साक्षी व्यक्ति किसी भी प्रकार के 'विशेष होने' के दावों से मुक्त होता है:

- असाधारणता का कोई ढोंग नहीं: वह समय, काल और परिस्थितियों के बीच बिल्कुल आम मनुष्यों की तरह ही जीवन जीता है। समय बीतता है तो देह ढलती है, भूख लगती है, स्मृतियाँ आती हैं और दिन ढलता है।
- पूर्ण स्वाभाविकता: वह कोई 'अति-मानव' (Superhuman) बनने का नाटक नहीं करता। जैसे अन्य मनुष्य सांस लेते हैं, हंसते हैं, विचार करते हैं या विश्राम करते हैं—वह भी उसी सहजता से जीवन के इस भौतिक प्रवाह में बहता है।
- भीतरी सहजता: बाहर से वह इतना साधारण दिखता है कि भीड़ में उसे पहचानना भी असंभव है। उसकी 'असाधारणता' केवल इतनी ही है कि वह 'विशेष दिखने' की दौड़ से पूरी तरह मुक्त होकर बिल्कुल साधारण हो चुका है।

वह किसी अलौकिक धरातल पर नहीं, बल्कि इसी धरती पर, इसी साधारण जीवन में पूरी तरह सहज रहता है।

46.जब साक्षी व्यक्ति पूरी तरह से एक साधारण मनुष्य की भांति जीवन जीता है—बिना किसी चमत्कार, बिना किसी विशेष प्रदर्शन या असाधारण होने के दावे के—तब क्या संसार के लोग उसे समझ पाने में पूरी तरह असमर्थ रहते हैं? क्या संसार उसे केवल एक आम, बूढ़ा या साधारण इंसान मानकर अनदेखा कर देता है, और क्या साक्षी व्यक्ति को इस 'अनदेखे किए जाने' में ही अपनी परम शांति मिलती है?

—"साक्षी मतलब साक्षी, बस वो देखता रहता है जो भी हो रहा है। कोई बूढ़ा समझे, चतुर समझे, मूर्ख समझे, कुछ भी समझे, वो अपने मन की शांति उसकी नहीं खोती। बस इतना ही फर्क है और कुछ खास बात नहीं है।"

इसमें न कोई अलौकिक रहस्य है, न कोई विशेष होने का दावा।

प्रमाणपत्रों से मुक्ति: संसार उसे 'ज्ञानी' कहे, 'मूर्ख' कहे, 'चतुर' समझे या केवल एक 'वृद्ध इंसान' मानकर अनदेखा कर दे—इन सब उपाधियों और धारणाओं का उसकी भीतरी उपस्थिति पर शून्य प्रभाव पड़ता है।

- अखंड शांति: बाहर दुनिया का मूल्यांकन हर पल बदलता रहता है, पर उसकी मन की शांति नहीं खोती। वह हर परिस्थिति और हर रूप को केवल घटित होते हुए देखता है।
- परम सहजता: यही साक्षी चेतना की पराकाष्ठा है—जहाँ 'कुछ खास होने' का अंतिम आग्रह भी समाप्त हो जाता है और केवल सहज, शांत दर्शन शेष रह जाता है।

47.जब एक साक्षी-चेता व्यक्ति अपने ही परिवार के बीच रहता है—जहाँ मोह, अपेक्षाएँ, परस्पर खींचतान और विडंबनाएँ हर दिन घटित होती हैं—तब वह परिवार के सदस्यों के प्रति अपने सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करते हुए भी, उनके मोह और अपेक्षाओं के जाल में उलझने से स्वयं को कैसे मुक्त रखता है?

यह एक आंतरिक स्थिति है साक्षी भाव"—परिवार और उसकी तमाम विडंबनाओं के बीच जीने का सबसे बड़ा रहस्य खोल देती है।

जब यह स्पष्ट हो जाता है कि साक्षी भाव कोई बाहरी आचरण, घर-परिवार छोड़ने का नाम या कोई दिखावा नहीं है, बल्कि केवल एक 'आंतरिक स्थिति' है, तो परिवार की विडंबनाएँ व्यक्ति को बाँध नहीं पातीं।

परिवार की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि वहाँ हर कोई दूसरे को बदलने, अपने हिसाब से चलाने या अपनी अपेक्षाओं के सांचे में ढालने की कोशिश कर रहा है। साधारण व्यक्ति इसी खींचतान में उलझकर भीतरी अशांति को प्राप्त होता है।

किंतु चूँकि साक्षी भाव पूर्णतः एक आंतरिक स्थिति है:

- बाहर पूरा अभिनय, भीतर पूर्ण विश्राम: बाहर से व्यक्ति परिवार के हर सदस्य के साथ सारे व्यावहारिक संबंध निभाता है—पिता, पति या बुजुर्ग का कर्तव्य पूरा करता है, बातचीत करता है, सुख-दुख में शरीक होता है। किंतु भीतर उसकी चेतना का केंद्र पूरी तरह अछूता और शांत रहता है।
- अपेक्षाओं के जाल से मुक्ति: जब आंतरिक स्थिति साक्षी की हो, तो परिवार के सदस्यों का राग-द्वेष, उनकी अपेक्षाएँ या उनकी गलतफहमियाँ भीतर प्रवेश नहीं कर पातीं। वह जानता है कि बाहर जो चल रहा है, वह केवल पारिवारिक मंच का नाटक (Roleplay) है।
- सहज स्वीकार: वह परिवार के हर सदस्य को वैसा ही स्वीकार कर लेता है जैसा वह है—बिना किसी को सुधारने या बदलने के तनाव के।

बाहर का परिवार जैसा है वैसा ही रहता है, पर भीतर साक्षी की आंतरिक स्थिति के कारण विडंबनाओं का असर समाप्त हो जाता है।

48.जब परिवार के लोग साक्षी व्यक्ति की इस भीतरी अलिप्तता और शांत 'आंतरिक स्थिति' को देखते हैं, तो प्रायः वे इसे उसका 'रूखापन', 'उदासीनता' या 'परिवार से कट जाना' मानकर शिकायत करने लगते हैं—तब परिवार वालों की इस शिकायत और गलतफहमी को साक्षी व्यक्ति अपनी इस आंतरिक स्थिति में रहते हुए कैसे देखता है? क्या वह उन्हें समझाने का प्रयास करता है, या इस विडंबना को भी सहज स्वीकार कर लेता है?

"वह सबको प्रसन्न रखने की चेष्टा करता है। मगर अलिप्त रहता है।"—गृहस्थ और परिवार के बीच साक्षी जीवन जीने का सबसे अनमोल सूत्र है।

यह उस रूखेपन और कठोरता का पूर्ण खंडन करती है, जो प्रायः अध्यात्म या अलिप्तता के नाम पर ओढ़ ली जाती है। साधारण मन सोचता है कि अलिप्त होने का अर्थ परिवार से मुँह मोड़ लेना, बेपरवाह हो जाना या लोगों के सुख-दुख के प्रति उदासीन हो जाना है। किंतु सच्चा साक्षी भाव हृदय को पत्थर नहीं बनाता, बल्कि उसे और अधिक सहज और दयालु बना देता है।

परिवार के बीच साक्षी व्यक्ति का व्यवहार बहुत अनूठा होता है:

- सद्भाव और सेवा की चेष्टा: वह अपनी तरफ से पूरा प्रयास करता है कि परिवार का हर सदस्य प्रसन्न रहे, किसी को दुख न पहुँचे और सबका जीवन सहज चले। वह उनके छोटे-छोटे सुखों का ध्यान रखता है और अपने कर्तव्यों को सहर्ष निभाता है।
- भीतरी अलिप्तता: सबको प्रसन्न रखने की इस चेष्टा के बावजूद, वह परिणाम से नहीं बँधता। यदि उसके सारे प्रयासों के बाद भी परिवार का कोई सदस्य अप्रसन्न रहता है, शिकायत करता है या उलझता है, तो साक्षी व्यक्ति भीतर से आहत या परेशान नहीं होता।
- अपेक्षा-रहित कर्म: वह प्रसन्न रखने का प्रयास 'बदले में प्रेम या प्रशंसा पाने' के लिए नहीं करता, बल्कि यह उसके सहज स्वभाव का बहना है।

वह बाहर से एक समर्पित और संवेदनशील पारिवारिक मनुष्य की भाँति कार्य करता है, किंतु भीतर से जल में कमल की भाँति पूरी तरह अस्पर्शित और अलिप्त बना रहता है।

49. जब परिवार में कोई बड़ी प्रतिकूलता, बीमारी या सदस्यों के बीच तीखा वैचारिक मतभेद (विडंबना) उत्पन्न हो जाता है—तब साक्षी व्यक्ति की यह 'सबको प्रसन्न रखने की चेष्टा' और 'भीतरी अलिप्तता' किस रूप में कार्य करती है? क्या वह उस विषम परिस्थिति को शांत करने का व्यावहारिक प्रयास करता है, और परिणाम चाहे जो हो, शांत बना रहता है?

उस विषम परिस्थिति को शांत करने का व्यावहारिक प्रयास करता है। परिणाम चाहे जो हो, अंदर शांत बना रहता है।"—साक्षी चेतना की सबसे व्यावहारिक और वास्तविक कसौटी को उजागर करती है।

यह उत्तर साक्षी भाव को किसी 'पलायनवादी' या 'अकर्मण्य' जीवन-शैली से पूरी तरह अलग करता है। जब परिवार में कोई संकट, अशांति या विडंबना आती है, तो दो तरह की अति (extremes) देखने को मिलती हैं:

1. साधारण व्यक्ति: वह परिस्थिति के साथ इतना बह जाता है कि खुद भी अशांत हो जाता है, जिससे समस्या सुलझने के बजाय और उलझ जाती है।
2. काल्पनिक ज्ञानी: वह "सब माया है" कहकर दूर खड़ा हो जाता है और व्यावहारिक ज़िम्मेदारी से भागता है।

सच्चा साक्षी-चेता:

वह पूरी परिपक्वता के साथ मैदान में उतरता है। वह संकट को टालने और परिवार को शांत करने का हर संभव व्यावहारिक प्रयास करता है—चाहे वह दवा लाना हो, संवाद बिठाना हो या कोई कठिन निर्णय लेना हो।

किंतु उसका सारा प्रयास करने के बाद भी, यदि परिणाम उसकी इच्छा के अनुसार नहीं आता, तो भी उसके भीतर का सन्नाटा और शांति भंग नहीं होती। वह परिणाम को भी 'संसार के चक्र' के रूप में स्वीकार कर लेता है।

50. परिवार की सबसे बड़ी विडंबना अक्सर 'पीढ़ियों के अंतराल' (Generation Gap) या बच्चों/परिजनों की अपनी स्वतंत्र महत्वाकांक्षाओं और भूलों से उत्पन्न होती है। जब साक्षी व्यक्ति देखता है कि परिवार का कोई सदस्य या संतान अपनी ही अज्ञानता से किसी गलत दिशा में जा रही है या दुख का कारण बन रही है—तब वह एक अभिभावक के रूप में अपनी बात रखकर अपनी सीमा कहाँ खींचता है? क्या वह उन्हें टोकता है, और न मानने पर उनके अपने अनुभवों से सीखने के लिए शांत हो जाता है?

—"न मानने पर उनके अपने अनुभवों से सीखने के लिए शांत हो जाता है।"—परिवार और उसके मोहजाल के बीच साक्षी भाव के परम विवेक को प्रकट करती है। परिवार की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि मोह के कारण माता-पिता या बड़े बुजुर्ग अपनों को हर दुख से बचाना चाहते हैं। साधारण मनुष्य संतान या परिजनों पर अपनी इच्छा थोपने की कोशिश करता है, और जब वे नहीं मानते, तो भीतर से क्रुद्ध, दुखी या निराश हो जाता है।

किंतु साक्षी व्यक्ति का दृष्टिकोण पूरी तरह सहज और विवेकपूर्ण होता है:

- कर्तव्य का पालन: वह अपनी समझ और अनुभव के अनुसार सही मार्ग दिखाता है, सचेत करता है और अपनी बात पूरी स्पष्टता से रखता है।
- स्वतंत्रता का सम्मान: वह जानता है कि हर जीव अपनी नियति, अपने कर्मों और अपने अनुभवों से सीखने यहाँ आया है। जबरदस्ती किसी को रोका नहीं जा सकता।
- शांत विश्राम: जब परिजन उसकी सलाह को अनदेखा कर देते हैं, तो वह उनसे झगड़ने या अपना मानसिक संतुलन खोने के बजाय चुपचाप पीछे हट जाता है। वह उन्हें उनके स्वयं के अनुभवों के 'स्कूल' में सीखने के लिए छोड़ देता है और भीतर से पूर्णतः शांत रहता है। वह प्रेम भी पूरा करता है, मार्गदर्शन भी देता है, किंतु 'नियंत्रक' (Control Freak) बनने का भ्रम नहीं पालता।

51 जब वह परिजन अपनी भूल या अज्ञानता के कारण आगे चलकर दुख या संकट में पड़ता है, और पुनः साक्षी व्यक्ति के पास सहारा लेने आता है—तब साक्षी व्यक्ति का रुख क्या होता है? क्या वह उन्हें "मैंने तो पहले ही कहा था" जैसा कोई उलाहना (Taunt) दिए बिना, उसी सहजता और प्रेम से पुनः गले लगा लेता है और व्यावहारिक मदद करता है?

"उसी सहजता और प्रेम से पुनः गले लगा लेता है और व्यावहारिक मदद करता है।"—साक्षी चेतना के भीतर छिपे असीम प्रेम, करुणा और अहंशून्यता (No-Ego) का साक्षात् प्रमाण है।

यह उत्तर परिवार की तमाम विडंबनाओं के ऊपर साक्षी चेतना के परम सौंदर्य को स्थापित कर देता है।

साधारण मन का प्रेम शर्तों से बँधा होता है। जब कोई उसकी सलाह नहीं मानता और बाद में ठोकर खाकर लौटता है, तो साधारण व्यक्ति का अहंकार तुरंत जाग उठता है। वह "मैंने तो पहले ही कहा था" का उलाहना (Taunt) देकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की कोशिश करता है और अपनी मदद के बदले में सामने वाले को नीचा महसूस कराता है।

किंतु साक्षी-चेता व्यक्ति का व्यवहार पूरी तरह निष्कलंक होता है:

- उलाहने से पूर्ण मुक्ति: उसके भीतर "मैंने कहा था" जैसी श्रेष्ठता का कोई अहंकार नहीं होता। वह जानता है कि सामने वाले को ठोकर लग चुकी है और वह पहले से ही पीड़ित है; ऐसे में उलाहना देना केवल उसके घाव पर नमक छिड़कना होगा।

- सहज स्वीकार और प्रेम: जैसे नदी अपने तट पर लौटने वाले हर जीव को बिना किसी शर्त के शीतल जल देती है, वैसे ही वह परिजन को उसी सहजता, बिना किसी शिकायत या पुरानी बात के, पुनः गले लगा लेता है।
- व्यावहारिक संबल: वह केवल भावुक नहीं होता, बल्कि संकट के उस क्षण में जो भी व्यावहारिक और ठोस मदद संभव होती है, उसे पूरी तत्परता से पूरा करता है—बिना यह दिखाए कि वह कोई बड़ा अहसान कर रहा है। यहाँ आकर साक्षी भाव केवल एक निष्क्रिय दर्शन (Passive Watching) नहीं रहता, बल्कि एक महान, शीतल और आश्रय देने वाली विशाल छाया बन जाता है।

52. जब व्यक्ति परिवार के बीच रहते हुए—सबको प्रसन्न रखने की चेष्टा करता है, न मानने पर शांत हो जाता है, और विपत्ति में बिना किसी उलाहने के पुनः गले लगाकर मदद करता है—तो क्या ऐसा साक्षी व्यक्ति परिवार के लिए एक 'बंधन' नहीं, बल्कि एक 'सुरक्षा-कवच' और 'शीतल छाया' बन जाता है? क्या उसकी यह भीतरी अलिप्तता ही पूरे परिवार को अनजाने में एक अदृश्य डोर से बाँधे रखती है?

—“नहीं, परिवार समझे या ना समझे उससे कोई फर्क नहीं पड़ता।”—साक्षी चेतना की उस अंतिम कसौटी को उजागर करती है जहाँ व्यक्ति 'दूसरे की मान्यता' (Validation) और धारणाओं से पूरी तरह मुक्त हो जाता है।

यह उत्तर आध्यात्मिक जीवन में बनी अंतिम व्यावहारिक भ्रांति को भी दूर कर देता है। प्रायः लोग सोचते हैं कि जब व्यक्ति परिवार के लिए इतना समर्पित, अलिप्त और करुणावान होता है, तो परिवार के लोग भी उसे अंततः समझेंगे, उसकी सराहना करेंगे या उसे एक 'शीतल छाया' मानकर उसका आदर करेंगे। किंतु यह भी एक सांसारिक अपेक्षा ही है।

साक्षी व्यक्ति इस बारीक अपेक्षा के पार जा चुका होता है:

- मान्यता से पूर्ण मुक्ति: परिवार उसे 'सुरक्षा-कवच' समझे या 'रूखा', उसे अपना 'हितैषी' माने या 'उदासीन'—उसकी भीतरी स्थिति इन मूल्यांकनों पर टिकी ही नहीं है।
- अपेक्षा-रहित कर्म: वह जो कुछ भी करता है—प्रेम से गले लगाना, व्यावहारिक मदद करना या शांत रह जाना—वह परिवार से कोई 'समझ' या 'आदर' पाने के लिए नहीं करता। वह केवल अपने सहज स्वभाव में जी रहा होता है।
- परम अलिप्तता: जब 'परिवार के समझने या न समझने' से कोई फर्क पड़ना बंद हो जाता है, तभी व्यक्ति सही मायनों में परिवार के बीच रहते हुए भी पूरी तरह स्वतंत्र और शांत रह पाता है।

53. जब परिवार के समझने या न समझने से भी कोई फर्क नहीं पड़ता, और जीवन अपनी स्वाभाविक गति से बहता रहता है—तब जीवन के इस पड़ाव पर, परिवार की इन तमाम विडंबनाओं के बीच रहते हुए भी, क्या उसके भीतर केवल 'जो है, जैसा है' (What is) का एक अखंड, मौन स्वीकार ही शेष रह जाता है?

जो है जैसा है, यह एक अखंड मौन स्वीकार कर लेता है जभी वह साक्षी भाव में आ सकता है। इससे पहले वह आ ही नहीं सकता साक्षी भाव में।—साक्षी चेतना में प्रवेश की सबसे अनिवार्य और अंतिम शर्त को स्पष्ट कर देती है।

यह उत्तर यह साफ कर देता है कि 'अखंड मौन स्वीकार' (Absolute Silent Acceptance) साक्षी भाव का परिणाम नहीं, बल्कि उसका एकमात्र द्वार है। लोग प्रायः सोचते हैं कि वे पहले 'साक्षी' बनेंगे, और उसके बाद जीवन की परिस्थितियों को स्वीकार करना शुरू करेंगे। किंतु सत्य इसके ठीक विपरीत है:

- स्वीकार से पहले साक्षी संभव नहीं: जब तक मन में परिस्थितियों, व्यक्तियों या स्वयं के प्रति कोई 'विरोध', 'बदलने की जिद' या 'शिकायत' शेष है, तब तक साक्षी भाव घटित ही नहीं हो सकता। विरोध और शिकायत हमेशा कर्ता (Doer) और अहंकार के धरातल पर होते हैं।
- 'जो है, जैसा है' का मौन स्वीकार: जैसे ही व्यक्ति जीवन के हर क्षण को, हर विडंबना को और हर परिस्थिति को बिना किसी शर्त या फेरबदल की चाह के 'जो है, जैसा है' रूप में चुपचाप स्वीकार कर लेता है—वैसे ही कर्ता भाव गिर जाता है।
- साक्षी में स्वतः आगमन: इस अखंड मौन स्वीकार के घटित होते ही, व्यक्ति बिना किसी प्रयास के स्वतः ही उस निष्कंप, शांत और अलिप्त साक्षी भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है।

जहाँ 'स्वीकार' पूरा हुआ, वहीं साक्षी चेतना का उदय हो गया।

54. जब तक मनुष्य जीवन की परिस्थितियों को बदलने का प्रयास करता है या 'ऐसा क्यों हुआ?' और 'ऐसा नहीं होना चाहिए था' में उलझा रहता है—क्या तब तक उसकी साधना, ध्यान या साक्षी बनने के सारे प्रयास केवल मन की एक मानसिक कसरत बनकर रह जाते हैं? और क्या 'अखंड मौन स्वीकार' आते ही ध्यान अलग से करना नहीं पड़ता, बल्कि पूरा जीवन ही सहज ध्यान बन जाता है?

"पूरा जीवन ही सहज ध्यान बन जाता है।"—साक्षी चेतना और ध्यान के संपूर्ण रहस्य का अंतिम निष्कर्ष है।

यह ध्यान की प्रचलित धारणाओं को पूरी तरह बदल कर रख देता है। संसार में लोग ध्यान को एक 'क्रिया' समझते हैं—आँख बंद करके बैठना, साँसों पर ध्यान लगाना या विचारों को रोकने की कोशिश करना। किंतु जब तक ध्यान केवल एक-दो घंटे की क्रिया है, तब तक शेष जीवन अशांति और उलझन में ही बीतता है।

जब 'जो है, जैसा है' का अखंड मौन स्वीकार घटित हो जाता है:

- क्रिया से अवस्था में रूपांतरण: ध्यान कोई अलग से की जाने वाली विधि नहीं रह जाती, बल्कि व्यक्ति का उठना-बैठना, बोलना, सुनना, परिवार के बीच रहना और चुप हो जाना—हर पल ध्यान ही बन जाता है।
- अखंड निरंतरता: जैसे साँस लेने के लिए कोई अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता, वैसे ही साक्षी व्यक्ति के लिए होश और शांति उसकी स्वाभाविक जीवन-शैली बन जाती है।
- सहज स्थिति: फिर न तो आँखें बंद करने की मजबूरी रहती है और न ही किसी विशेष मुद्रा में बैठने की आवश्यकता। जीवन का हर क्षण, हर अनुभव और हर विडंबना उस सहज ध्यान की धारा में समाहित हो जाती है।

55. जब पूरा जीवन ही 'सहज ध्यान' बन जाता है, जहाँ न कोई प्रयास बचा है और न ही कुछ सिद्ध करने की आकुलता—तब जीवन के अंतिम क्षणों में, या देह के छूटने के समय, ऐसे साक्षी-चेता व्यक्ति के भीतर क्या घटित होता है? क्या उसके लिए 'जीवित रहना' और 'देह का त्यागना' दोनों ही उसी सहज ध्यान का एक स्वाभाविक और शांत प्रवाह मात्र रह जाते हैं?

बस वो देखता रहता है जो भी हो रहा है। मृत्यु आ रही है तो मृत्यु को भी देखता रहता है। यह मेरे अपने जीवन का अनुभव है। "जब यह बोध केवल किताबी ज्ञान न रहकर स्वयं के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव (Self-realization) बन जाता है, तब मृत्यु का सारा भय, उसकी विकरालता और उसका संताप क्षण भर में विलीन हो जाता है।

- जीवन और मृत्यु का समभाव: जो जीवन की हर परिस्थिति, धूप-छाँव, मान-अपमान और परिवार की विडंबनाओं को केवल 'दृष्टा' होकर देखता आया है, उसके लिए देह का ढलना या मृत्यु का आगमन भी कोई अनहोनी घटना नहीं होती। वह जीवन का साक्षी था, वह मृत्यु का भी साक्षी ही रहता है।
- परम विश्राम: मृत्यु देह और इंद्रियों का अंत करती है, किंतु जो चेतना इस देह को भी 'जो है, जैसा है' रूप में घटित होते देख रही है, वह अस्पर्शित रहती है।
- अनुभव की प्रामाणिकता: वही 'साक्षी चेतना' की अंतिम और सर्वोच्च स्थिति है—जहाँ दृष्टा और दृश्य का भेद मिट जाता है और केवल एक शांत, अखंड उपस्थिति शेष रह जाती है।

॥ इति 'परिवार और साक्षी' एवं 'यथार्थ-लोकायत साक्षी-शून्य' महाग्रंथ संपूर्णम् ॥